खरगोश के सींग

प्रभाकर माचवे

श्री प्रभाकर माचवे कवि हैं, कथाकार हैं, आलोचक, सम्पादक, प्रोफ़ेसर, शब्द शास्त्री, रेडियो नाटककार और न जाने क्या क्या हैं, किन्तु प्रस्तुत संग्रह के चंद ही पृष्ठ पढ़ने पर पता चल जायगा कि साहित्य में दरअसल उनका प्रिय विषय क्या है और किस में उनकी प्रतिभा अपने पूरे विकास को पहुँची है। *माचवे जी अव्वल और आखिर हास्य-व्यंग्य के लेखक हैं।*

प्रख्यात हास्यकार लीकॉक की भाँति उनके निबंध न केवल ओठों पर अनायास मुस्कान लाते हैं, वरन् उस समस्या की भी पूरी शिद्दत से महसूस करा देते हैं, जिसके गढ़ पर वे निरन्तर अपने हास्य-व्यंग्य के गोले बरसाते हैं।

हिन्दी हास्य-व्यंग्य साहित्य के ठहरे हुए पोखर में *खरगोश के सींग* का प्रकाशन बरसाती जल के आगमन सा है जो पोखर को न केवल नया बल वरन् नयी गति भी प्रदान करता है।

और फिर माचवे जी के कार्टून जिनसे उन्होंने अपने लेखों को विभूषित किया है कला-त्मक नमूने ही नहीं, हास्यकार माचवे का भी पूरा प्रतिनिधित्व करते हैं, लेखों को पढ़कर ओठ ही नहीं मुस्कराते, कार्टून नुमा शीर्षकों को देख कर दिल भी गुदगुदा उठता है।

खरगोश के सींग

लेखक

श्री प्रभाकर माचवे

नीलाभ प्रकाशन गृह
प्रयाग

प्रकाशक
नीलाभ प्रकाशन गृह
५, खुसरोबाग़ रोड,
इलाहाबाद

मूल्य ३।)

मुद्रक
जाब प्रिंटर्स
६६, हीवेट रोड,
इलाहाबाद

परिचय

श्री प्रभाकर माचवे हिंदी के उन इने-गिने लेखकों में हैं जिनकी सरसता ज्ञान की आँच से सूख नहीं गई। माचवेजी की मातृभाषा मराठी है, पर हिंदी पर उनका उतना ही अधिकार है जितना मराठी पर। मै हिंदी के जिन तरुण लेखकों को व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ उनमें बहुत कम ऐसे होंगे जो माचवेजी की तरह ज्ञानपिपासु, बहुश्रुत और साथ ही सरस भी हो। माचवेजी वैसे दर्शनशास्त्र के ज्ञाता हैं, बहुत दिनों तक इसी शास्त्र के प्रोफेसर के रूप में कार्य कर चुके हैं। साधारणतः जो लोग दर्शन जैसे जटिल विषय में मानसिक विश्राम पाते हैं वे अपना एक मानसिक घरौंदा बना लेते हैं और उससे बाहर नहीं निकलना चाहते। माचवेजी इस नियम के अपवादों में से हैं। दर्शनशास्त्र उनको बाँधता नहीं, मुक्त दृष्टि देता है। वे संसार की हलचलों को देखते हैं और अपने अध्ययन-मनन के द्वारा यह निश्चय

करते हैं कि इस समूचे कोलाहल के भीतर वह स्वर कौनसा है जो भविष्य में मार्ग-प्रदर्शक बनने की क्षमता रखता है। इस निश्चय के साथ वर्तमान-काल में मतभेद होना स्वाभाविक है, क्योंकि यह तो भविष्य ही ठीक-ठीक बता सकता है कि उनकी पहचान कहाँ तक ठीक थी। परंतु उस पहचानने की प्रक्रिया में माचवेजी अपने पाठक को सदा साथ रखते हैं और उसको युक्ति से, तर्क से, मनोरंजन से अपने अनुकूल बनाते रहते हैं। इस पुस्तक में उनके जो निबंध हैं वे उनके अध्ययन-मनन के सबूत हैं और उनकी सरसता के निदर्शक हैं। माचवेजी अपने विचारों को केवल साहित्य में ही नहीं रूप देते, वे रेखा और रंग के सहारे भी उसे मूर्तिमान करना जानते हैं। हिंदी के प्रसिद्ध चिन्तन परायण साहित्यकार श्री अज्ञेय जी से वे इस विषय में तुलनीय हैं।

आजकल ऐसे कम ही साहित्यकार मिलते हैं जिनमें चिन्तन-मनन, अध्ययन और सरसता का ऐसा मणिकांचन योग हो। माचवेजी में व्यंग्य करने की बड़ी शक्ति है। उनके व्यंग्य बहुत चुभते हुए होते हैं, परन्तु सर्वत्र उनमें एक प्रकार की अनासक्ति वर्तमान रहती है। वे व्यंग्य करके यह सोचने में नहीं उलझते कि उसका क्या और कितना असर हुआ। इस प्रकार निश्चिन्त हो जाते हैं जैसे कुछ किया ही नहीं।

माचवे जी ने हिंदी साहित्य को कई रचनाएं दी हैं। हिंदी पाठक उन्हें सरस कवि, चिंतनशील कहानी एकांकी लेखक और समालोचक के रूप में जानते हैं। इन निबंधों में उनका नया रूप दिखाई देगा, परन्तु वस्तुतः इन निबंधों में उनके तीनों रूपों का सुन्दर समन्वय हुआ है। मैं हृदय से इनका स्वागत करता हूँ।

काशी विश्वविद्यालय   हज़ारी प्रसाद द्विवेदी

३-२-५१

संग्रह का इतिहास

श्री प्रभाकर माचवे को पहले पहल मैंने "जैनेन्द्र के विचार" की शबे-फ़िराक़ की तरह लम्बी भूमिका के लेखक की हैसियत से जाना। उस भूमिका में उन्होंने क्या लिखा था, यह मैंने नहीं देखा। मैं कहानी लेखक जैनेन्द्र का प्रशंसक रहा हूँ, पर उनके विचार मुझ पर कभी कोई प्रभाव नहीं डाल सके। उन उलझे विचारों की (जो स्वयं जैनेन्द्र के कथनानुसार योंही एक्स्ट्रेवेगंज़ा' (उद्भ्रांत-प्रबन्ध मात्र) थे इतनी लम्बी भूमिका लिखना ही मेरी दृष्टि में भूमिका लेखक का मूल्य कम कर देने के लिए काफ़ी था। और यद्यपि भूमिका की लम्बाई का हिन्दी भाषियों पर काफ़ी रौब रहा, पर मैंने उसके बाद कभी कहीं किसी लेख अथवा कहानी पर यदि 'प्रभाकर माचवे' नाम देखा तो उसे पढ़ने का कष्ट नहीं किया। योंही एक पूर्व-ग्रह (prejudice) सा मुझे माचवे जी के प्रति हो गया।

मेरा यह पूर्वग्रह १६४७ तक क़ायम रहा। उस वर्ष मुझे नेशनल इन्फार्मेशन एंड पबलीकेशन्ज़ की ओर से एक मसौदा मिला कि मैं उसके सम्बन्ध में अपनी सम्मत्ति दूं। उक्त प्रकाशन गृह को मैंने स्वयं दो पुस्तकें दी थीं, एक पुस्तक का अनुवाद उनके लिए किया था और उनके परामर्शदाता की हैसियत से भी मुझे प्रति मसौदा कुछ मिलता था। मसौदा काफ़ी बुरी हालत में था, लगता था जैसे लेखक ने बड़ी बेपरवाही से इधर उधर से पत्र पत्रिकाओं में छपी अपनी कहानियाँ इकट्ठी की हैं और बिना दूसरी नज़र डाले और छापे की भूलें सुधारे उन्हें प्रकाशन के लिये भेज दिया है। वह मसौदा माचवे जीकी कहानियों का था तब मुझे उनकी कितनी ही कहानियां बरबस एक साथ पढ़नी पड़ीं। सभी तो नहीं पर कुछ कहानियां, विशेष कर दो तीन, जो कहानियों की अपेक्षा हास्य रस के लेख अधिक थीं, मुझे बहुत पसंद आयीं और तब वैसी ही और चीजें पढ़ने की लालसा हुई। तभी दिल्ली से 'मनोरंजन' निकलने लगा और उसमें माचवे जी की एक के बाद एक सुन्दर चीजें निकलने लगीं। 'गाली' 'मकान', 'खुशामद' मुझे इतनी अच्छी लगीं कि पंचगनी के उस अवकाश में मैंने उन्हें एक से अधिक बार पढ़ा और रस पाया। तब मैंने माचवे जी को उनकी प्रशंसा में पत्र ही नहीं लिखा, वरन् अपने उपन्यास 'गिरती दीवारें' तथा अपने कहानी संग्रह भी उन्हें भेंट किये।

मैंने फिल्म की नौकरी में कुछ रुपये जमा किये थे। प्रकाशकों के हाथों से इतना तंग था कि मेरा इरादा स्वयं लाहौर जाकर प्रकाशन करने का था। माचवे जी के ये लेख मुझे इतने अच्छे लगे कि जब मुझे पता चला, नैशनल इन्फर्मेशन वालों ने उनकी पुस्तक प्रकाशित नहीं की, तो मैंने उन्हें लिखा कि यदि उन्हें स्वीकार हो तो मैं उनके हास्य रस के लेखों का संग्रह प्रकाशित करूं और मैं ने उन्हें अपने प्रस्तावित प्रकाशन गृह की विस्तृत योजना लिख भेजी। वे तत्काल मान

गये और उन्होंने मुझे लेखों की सूची और कांट्रेक्ट भेज दिया, पर मेरा सारा रुपया मेरी बीमारी में लग गया और वह सूची तथा कांट्रेक्ट वैसे का वैसा पड़ा रहा।

इधर जब दो वर्ष पहले "नीलाभ प्रकाशन" का आयोजन हुआ तो मैंने कौशल्या जी को श्री माचवे का संग्रह छापने का परामर्श दिया। कुछ रुपये का अभाव होने और कुछ माचवे जी के पास लेखों की कोई प्रतिलिपि न होने से यह संग्रह पहले न छप सका। इस संग्रह के छपने का श्रेय अधिकतर कौशल्या जी को है, जिन्होंने स्वयं दिल्ली जाकर पत्र-पत्रिकाओं के दफ्तरों से वे लेख इकट्ठे किये और संग्रह में वे सभी लेख आ गये जो मुझे पसंद थे।

माचवे जी अपने इन लेखों को स्वयं ब्रिलिएंट नॉनसेन्स (चमत्कार-पूर्ण बकवास) कहते हैं। मैं उनसे सहमत नहीं। उनके यहाँ बकवास बिल्कुल न हो, या उनकी कुछ बकवास में चमत्कार न हो, ऐसी बात नहीं, परन्तु प्रस्तुत संग्रह के लेखों में कदाचित ही कोई ऐसा लेख हो जिसे इस विशेषण से विभूषित किया जा सके। ये लेख उनके हास्य-रस का निचोड़ हैं। न केवल ये हास्य रस का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, वरन् इनकी उपादेयता भी विवाद से परे है। हँसी हँसी में माचवे जी ने बड़े तीखे नश्तर लगाये हैं, जिनसे रक्त तो नहीं निकलता, पर जो हृदय में दूर तक उतर जाते हैं। 'कुत्ते की डायरी' 'नम्बर आठ का जादू' 'पत्नी सेवक संघ', 'घूस' 'खुशामद' 'मकान' 'गाली' आदि-आदि ऐसे लेख हैं जिन्हें चाहे जितनी बार पढ़ा जाय, रस में कमी नहीं आती। इसके अतिरिक्त मनोरंजन के साथ-साथ इन लेखों को पढ़ते-पढ़ते हम कितनी ही सामयिक समस्याओं के सम्बन्ध में शिद्दत के साथ सोचने पर विवश हो जाते हैं। यही मेरे विचार में माचवे जी की सफलता है।

फिर इनके अतिरिक्त ऐसे लेख भी हैं जो अनायास ही बीसियों बातों के सम्बन्ध में हमारी जानकारी बढ़ा देते हैं। माचवे जी के इन

दूसरी तरह के लेखों में साहित्य और पत्रकारिता का अपूर्व समावेश है। प्रस्तुत संग्रह में दोनो तरह के लेखों का सार है। पाठक न केवल हास्य तथा मनोरंन पायेंगे वरन् उपादेयता, विचारोत्पादकता, व्यंग्य तथा जागरूकता भी !

माचवे जी स्वयं चित्रकार भी हैं। इन लेखों के शीर्षक कार्टूनों में उन्होने स्वयं ही बनाये है। मुख-पृष्ठ का डिजाइन भी उन्हीं का है। न केवल लेखों में वरन् इन कार्टूनों में भी पाठकों को उनका वही व्यंग्य तथा नवीनता मिलेगी।

माचवे जी डबल एम० ए० हैं, बीस ज़बानें जानते हैं, कवि, कथाकार, व्यंग लेखक और आलोचक हैं; दसियों ग्रंथों का उन्होंने सम्पादन किया है, दसियों ग्रंथों के सम्पादन में योग दिया है, दसियों लेख उन्होंने लिखे हैं, पर आज तक उनका एक भी संग्रह प्रकाशित नहीं हो सका। वे लिखने में जिस त्वरा से काम लेते हैं, लेखों के संकलन तथा सम्पादन में उतनी ही बेपरवाही का बर्ताव करते हैं। संग्रह के प्रकाशन में हमने इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि माचवे जी ने हास्य रस के जो निबंध लिखे हैं, उनमें से चुने हुए पच्चीस छब्बीस निबंध एक जगह इकट्ठे हो जांय। इस प्रयास में, विशेष कर मेरी बीमारी तथा माचवे जी की बेपरवाही के कारण, देर हो गयी। पुराने लेखों के परिमार्जन में माचवे जी को कष्ट भी करना पड़ा। वे झल्ला भी उठे। पर यह सब अच्छा ही हुआ, क्योंकि प्रस्तुत रूप में संग्रह न केवल हिंदी में हास्य-रस के अभाव की पूर्ति करता है वरन् उसे गति भी प्रदान करता है।

प्रयाग　　　　　　　　　　　　उपेन्द्रनाथ अश्क

२२, फरवरी १९५१

सूची

शुनिचैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः।

(गीता)

मेरा नाम 'टाइगर' है, गो शक्लसूरत और रंग रूप में मेरा किसी भी शेर या 'सिंह' से कोई साम्य नहीं। मैं दानवीर लाला अमुक-अमुक का प्रिय सेवक हूँ; यद्यपि वे मुझे प्रेम से कभी-कभी थपथपाते हुए अपना मित्र और प्रियतम भी कह देते हैं। वैसे मैं किस लायक हूँ? मतलब यह है कि लाला जी का मुझ पर पुत्रवत् प्रेम है। नीचे मैं अपने एक दिन के कार्यक्रम का ब्योरा आपके मनोरंजनार्थ उपस्थित करता हूँ:—

६ बजे सवेरे—घर की महरी बहुत बदमाश हो गई है। मेरी पूँछ पर पैर रखकर चली गई। अन्धी हो गई क्या? और ऊपर से कहती है—अँधेरा था। किसी दिन काट खाऊँगा। गुर्र-गुर्र.....अच्छा

चंगा हड्डीदार सपना देख रहा था और यह महरी आ गई—इसने मेरे सपने के स्वर्ण-संसार पर पानी फेर दिया। विचार-शृङ्खला टूट गई। बात यह है कि मैं एक शाकाहारी घर में पल रहा हूँ। अतः कभी-कभी मांसाहार का सपना आ जाना पाप नहीं!—यह मेरी अतृप्त वासना है, ऐसा परसों मालिक से मिलने को आये, एक बड़े मनोवैज्ञानिक जी कह रहे थे।.....फिर सो गया।

७ बजे—कोई कम्बख्त आ ही गया। नवागन्तुक दिखाई देता है। बहुत भूँका—पर नहीं माना। ज़रूर परिचित होगा। जाने दो—अपने बाबा का क्या जाता है? डेढ़ सौ वर्षों से ब्रिटिश नौकरशाही ने हमें यही सिखाया है—किसी की सारी, किसी का सर—अपने से क्या? हम तो भुस में आग लगाकर दूर खड़े हैं तापते!

८ बजे—नाश्ता-पानी। आज ब्रेकफ़ास्ट की चाय पर बहुत गर्मा-गर्म बहस हो रही है! क्या कारण है? मालिक कह रहे हैं कि इन मजदूरों ने आजकल जहाँ देखो वहाँ सिर उठा रखा है। कुचलना होगा इसे। जान पड़ता है—मजदूर कोई साँप है। मालिक के मित्र बतला रहे थे कि उत्पादन में कमी हो रही है। हड़तालों के मारे तबाही मची हुई है। ऐसा कहते हुए उन्होंने अपनी नई 'सुपरफाइन' धोती से चश्मे की काँच पोंछकर साफ की थी। मालिक की लड़की कुछ उद्धत जान पड़ती है; बाप से मतभेद रखती है। यही तो कुत्तों की जाति और मानव-जाति में अन्तर है—कुत्ता सदा वफादार रहता है; आदमी, ये अहसान-फरामोश हो जाते हैं!

९ बजे—बगीचे में मालिक के छोटे लड़के (और आया उनके साथ) सैर के लिए आये। फूलों के विषय में आया कुछ भिन्न मत रखती है; मालिक की लड़की का कुछ और मत है। मेरी दृष्टि से तो ये सब काट-तराश बेकार-सी चीज है—मगर नहीं—मैं अपना मत नहीं दूँगा—पहिले मैं यह जान लूं कि फूलों के बारे में मालिक का

क्या मत है ? तभी अपना मत देना कुछ 'सेफ़' होगा।

१० बजे—एक नये ढंग के जानवर से मुलाकात हो गई। यह 'फट् फट् फट्' आवाज़ बहुत करता है, नथुनों से धुँआ उगलता है। मालिक चाहता है तब रुकता है, चाहता है तब सरपट दौड़ता है। बड़ी चमकीली आँख है उसकी। मैंने भरसक उसकी नकल में भूँकने और दौड़ने की कोशिश की— मगर यह किसी विदेश से आया हुआ प्राणी जान पड़ता है। जाने दो, अपने को विदेशियों से क्या पड़ी है ? अपने राम तो 'स्वदेशी' के पुरस्कर्ता हैं—चाहे नाम ही स्वदेशी हो— और बनाने के यन्त्र सब विदेश से आते हों।

११ बजे—भोजन। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अच्छे-अच्छे तनखावाले बाबुओं को जो नसीब न होगा, ऐसा उमदा पकवान हमें मिल जाता है। सब भगवान की लीला है। जब वह खाता हूँ तो भूल जाता हूँ कि मेरे गले में कोई पट्टा भी है या मुझे भी कभी मालिक ठोकर मारता है। मुझे स्वामी की ठोकर अतिशय प्रिय पुचकार की भाँति जान पड़ती है।

१२ बजे से ३ बजे तक—विश्रान्ति।

३ बजे— सहसा किसी का स्वर। निश्चय ही वह मालिक की बड़ी लड़की का मुलाकाती, भूरे-भूरे बालों वाला तरुण है ! वह मखमल का पैंट पहनता है, पहिले मैंने उसे किसी चितकबरी बिल्ली का बदन ही समझा— वह गरीबों की बात बहुत करता है ! आज उसने जो चर्चा की उसमें कला का भी बहुत उल्लेख था। जान पड़ता है कि शिकारी कुत्ते को जैसे एक खास काम के लिए पालकर बड़ा किया जाता है ; वैसे ही यह कलाकार नामका प्राणी भी समाज में किसी खास हेतु से बढ़ाया जाता है।

४ बजे—शाम की चाय के चक्र बहुत मण्डली जुटी थी। घर खासा चाय घर बन गया था। आज 'हिन्दुत्व', 'हिंदू-सभा', 'हिन्दू-वीर',

'हिन्दू-दर्शन' आदि विषयों पर बड़ी बहस हुई। कई लोग थे जो इस बारे में उदासीन थे कि वे अपने को हिन्दू कहें या अहिन्दू। दो-चार नौजवान इस बारे में बहुत 'टची' * थे। जैसे कुत्ते की थूथड़ी पर कोई बेंत मारे तो वह तिलमिला उठता है; वैसे ही उनके हिन्दुत्व पर चोट करने से ऐसा जान पड़ता था कि उनके सतीत्त्व पर चोट हो रही है। मैं जानना चाहता हूँ कि हिन्दू क्या चीज़ है? यह किस चिड़िया का नाम है? मेरा पुराना मालिक ईरानी था--और तब भी मैं सुखी था—अब भी हूँ। ग़ुलाम का कोई धर्म नहीं होता—कहते हैं अब यहाँ के आदमी आज़ाद हो गये हैं— मगर पैसे की ग़ुलामी तो अभी बाकी ही है। जैसे प्रसन्न होकर मेरी जाति के प्राणी अपनी पूँछ हिलाने लगते हैं; वैसे मैंने कई विद्वान चरित्रवान, निष्ठावान, धर्मवान (गाने जाने वाले) महानुभावों को पैसे की सत्ता के आगे पिघलते हुए देखा है। हिन्दुत्व बड़ा है या पूँजीत्व!

५ बजे—बाहर फिर घूमने के लिए चला। मालकिन मेमसाहिबा खास कपड़े पहने, ऊँची एड़ी के जूते, रंगीन साड़ी वगैरह के साथ थीं। मेरी भी चेन खास ढङ्ग की थी। यह तभी पहनाई जाती है जब मालकिन किसी उत्सव-विशेष या बाइस्कोप वगैरह में शामिल होती हैं। आज भी कुछ भीड़ देखने को मिलेगी। मेरी दृष्टि में सभा समाजों की भीड़ और सिनेमा-थियेटर की भीड़ में ख़ास अन्तर नहीं।

६ से ८-३० बजे तक—एक सफेद पर्दे पर हिलती-बोलती तस्वीरें देखीं। अरे, तो यह आदमी जो अपने आपको बहुत सभ्य समझता है सो कुछ नहीं है। जैसे हम लोगों में प्रेमातुरता होती है, वैसे ही इनके चलचित्रों की नायक-नायिकाएँ दिखाती हैं। कोई खास अन्तर लड़ने-भिड़ने में भी नहीं—जैसे दो श्वान एक हड्डी के लिए लड़ते हैं, दो मानव एक मानवी के लिए या मत के लिए या पराये देशके लिए।

* 'टची=touchy=तिलमिलानेवाले।

अच्छा हुआ मैंने यह दृश्य देख लिया, जिसे हजारों मानव चुप बैठे हुए आंखों के सहारे निगल रहे थे ।। मेरा स्वप्न भङ्ग हो गया। मानव जाति को मैं बड़ा आदर्श समझता था—परन्तु वैसी कोई विशेष बात नहीं।

९ बजे—सोया। क्योंकि फिर सवेरे जागना है, वही पूँछ हिलाना है—तब डबलरोटी का टुकड़ा शायद मिले; और ज्यादह खुशामद करने पर दूध भी मिल सकता है!

अच्छा भुः भुः (मानवों की भाषा में अनुवाद : अच्छा तो राम-राम!)

[१९४७

उतना ही चलता-पुर्जा, सफल, कामयाब, सुसभ्य सुसंस्कृत माना जाता है। आप मेरी बात का यकीन न करते हों तो कोई भी अखबार उठा कर देख लीजिए। बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ क्या करते हैं? अपनी सभ्यता पर गर्व करने वाले इंगलैंड-अमरीका आदि देश ले लीजिए: वे सदा ही अन्य देशों की बात करते समय इसी मधुलिपटी गाली का उपयोग करते रहते हैं। चर्चिल ने जब गांधी को याद किया, या जब कभी फासिस्ट गुंडों-लुटेरों आदि की चर्चा होती है, या आज-कल सोवियत् रूस और तत्संबंधी राजनैतिक मतावली की जब याद की जाती है तब किन शब्दों में? मास्को से छपने वाला राजनैतिक पाक्षिक 'न्यू टाइम्स' तो एक अपना स्तम्भ ही चलाता है—'गालियों पर प्रकाश'—'स्पाट लाइट आन स्लैंडर'।

मैं यह प्रश्न मानव वंश-शास्त्रियों के लिए छोड़ देता हूँ कि आदमी गाली देना सीखा कब से? मैं समझता हूं, जबसे वह 'सभ्य' बना! अखबार में आज कल हम देखते हैं कि गाली देना एक कला बन गई है। इस गाली-दानकला के कुछ पेटेन्ट शिकार भी हैं—राष्ट्रवादी पत्रों में 'जिन्ना' और उनकी कम्पनी, वामपक्षी कहलाने वाले पत्रों में पूंजीपति! और फिर कोई भी गाली देने के लिए न मिले तो हिन्दी कवि तो सब से अच्छा, सीधा और सरस विषय है ही। मतलब यह है कि क्या राजनीति में, क्या साहित्य में, क्या धर्म और दर्शन में, यदि आपके पास खोजने की दृष्टि हो तो गालियां देने वाले और गालियाँ खाने वाले आपको समूचे इतिहास में मिल जायेंगे। बहुत कुछ साहित्य जो 'वीर रस' के नाम से प्रख्यात है, वह इसी प्रकारकी प्रच्छन्न गाली-दान क्रिया से भरा है। बाबा तुलसीदास ने भी जहाँ 'जानकीमंगल और 'पार्वती-परिणय' में विवाह की दावतों की 'ज्योनार' वाली मधुर गालियां लिखी हैं, वहां क्रोध में भर 'गारी देत नीच हरिचन्दहू दधीचहू

को' कह कर कलियुग की महिमा उत्तराकांड में गाई है। धर्म-क्षेत्र में तो गाली देने का जैसे मौरूसी हक धर्म प्रचारकों को प्राप्त है। मेरा जितना सो अच्छा है, औरों का जितना सो बुरा। इसलिए हिन्दू के लिए अहिन्दू म्लेच्छ है, असुर है; मुस्लिम को अ-मुस्लिम काफिर; ईसाई को अ-ईसाई 'हीदन' या 'पैगेन' और इसी प्रकार 'मामेकं शरणं व्रज' की भावना सब धर्मों में है।

आप यदि समझते हों कि मनुष्य ज्यों-ज्यों सभ्य होता गया, त्यों-त्यों वह गाली बकना ज्यादा सीखता गया, तो यह बात गलत है। शान्तिब्रह्म कहलाने वाले ऋषि-मुनि तक क्या करते थे? आज कल समाचार पत्र वाले एक दिन एक को गाली देते हैं, दूसरे दिन बदनामी के लिए बिलाशर्त माफ़ी मांग लेते हैं। उसी प्रकार ऋषि लोग क्रोध में आकर शाप दे देते थे, बाद में उःशाप देकर उससे छुट्टी पा लेते थे। 'शकुन्तला' का दुर्वासा ऋषि भीख मांगने आया भी तो कण्व ऋषि के आश्रम में और बस आव देखा न ताव देने लगा चुन-चुन कर शाप! ऋषि लोग बरसों संयम से जंगलों में रहते थे—क्रोधादि सर्प उनके अवचेतन मन में छिपे रहते थे, उन्हें बाहर निकालने के लिए कभी मौका तो चाहिए। बस किसी-न-किसी दिन बिगड़ पड़ते थे और काट बैठते थे।

मध्ययुग में कुछ तहज़ीबदारी बढ़ गई थी। गाली इतनी आमफ़हम (बोध-गम्य) नहीं थी। सामन्ती काल में गाली भी बड़े लाग-लपेट से दी जाती थी। बीरबल-बादशाह के किस्सों में 'हुजूर गधे आते हैं!' और 'गधे भी तमाकू नहीं खाते' इत्यादि किस्से सु-परिचित हैं। पता नहीं गाली की गधे और उल्लू जैसे निरीह और संयमी जानवरों से क्यों इतनी दुश्मनी है। जेरूसलम में तो गधे पूज्यनीय वस्तु हैं और अंग्रेजी कविता में उल्लू ज्ञान का प्रतीक! और फिर कुछ गालियों का अर्थ तो केवल व्युत्पत्ति-शास्त्रज्ञ ही बता सकेंगे? काठ ने क्या अपराध किया, जो उसका उलूक

से सम्पर्क कर देने से एक-दम वह भयानक अपशब्द बन गया! जानवरों के समान ही गाली का कुछ शहरों से भी सम्पर्क हो गया है। 'शिकारपुरी' 'बलियाटिक', '[illegible]चिपुरी', 'रांची से आये हैं', 'थाना से आये हुए' आदि प्रसिद्ध वचन हैं जो कि 'लखनौआ', 'भोपाली' और 'मैलानी' से भी अधिक प्रचलित हैं। परन्तु मैं बताऊं कि ये जो पागलों की बस्तियां समझी जाने वाली पिछड़ी हुई जगहें हैं, वे ही कभी कभी कमाल के कारनामे कर दिखाती हैं। '४२ का बलियावासी ही लीजिए। क्या '४२ का बलियाटिक' कहलाने से आप बुरा मानेंगे या आपकी छाती गर्व से फूल उठेगी? थाना के पास ही धूरली किसानों ने कम बहादुरी नहीं दिखाई। मतलब यह कि जगह को बदनाम करने से कुछ नहीं होता। वैसे तो क्या काबुल में भी गधे नहीं होते? और 'रांड सांड, सीढ़ी, सन्यासी। इनसे बचे तो सेवे काशी!'

कुछ जानवर और शहरों की तरह कुछ रिश्ते भी ख़ामख़ा गाली के अन्दर मान लिये गये हैं। भला बताइए कि पत्नी के भाई या बहिन क्या सभी बुरे होते हैं। (और क्या आप पाठकों में से जो पति हैं, उनकी हिम्मत है कि आप पत्नी के सामने इस बात को कह सकें?) मगर बुरे न होने पर भी सारे के सारे 'सारे' उस कोटि में शुमार हैं। वैसे ही यह बेसुर 'स-सुर' शब्द ले लीजिए। ससुराल यों जेल को चाहे कहें, ससुर जेलर को आप चाहें 'सुर' या 'असुर' कह लें 'ससुर' नहीं कह सकते। और वैसे ही बेचारी विधवा ने किसका क्या बिगाड़ा है? मगर 'सिन्दूर' फिल्म चाहे होमवती की 'गोटे की टोपी' की नकल टीप कर बना हो या न बना हो और लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'सिन्दूर की होली' कर डाली हो, 'रांड' उसी अर्थ में मौजूद है, जब कि संस्कृत 'रंडा' के अर्थ केवल 'स्त्री' है, उसका स्त्रिलिङ्ग हिन्दी में गाली बन जाता है। नाथूराम शर्मा शंकर ने एक काव्य लिखा है—'गर्भ रंडा रहस्य' नाम से। कहिए 'देवदासी'—जो प्रिय छायावादी शब्द है—आप

के मन में 'प्रसाद की कहानियां नाचने लगेंगी—देवरथ और सदाबीरा। कहिए 'उर्वशी' 'अप्सरा' तो आप रवीन्द्र ठाकुर तथा पन्त की कविता के लज़ीज़ चटखारे लेने लगेंगे और कह दीजिए उसी को पतुरिया, बेसवा, रंडी, छिनाल तो आप मारे जुगुप्सा से भर उठेंगे और मुझ जैसे शब्द शास्त्री लेखक को डंडा लेकर मारने दौड़ेंगे—अश्लील-अश्लील कहकर! यद्यपि साँप की बजाय बांबी पीटने से कुछ होता नहीं है! सौभाग्य है कि 'भाभी' और 'बहिन जी' शब्द अभी उस प्रत्यक्ष 'गाली' कोटि में नहीं आये, परन्तु कुछ साहित्यकारों ने उन दो रिश्तों का जैसा ढीला-ढाला उपयोग किया है, उससे वे रिश्ते भी बहुत कुछ उसी श्रेणी के निकट आ पड़ते हैं—यद्यपि पाण्डवों में यह प्रश्न रहा होगा कि द्रौपदी भाभी किसकी है और पत्नी किसकी?

अक्सर लड़ाई की शुरुआत गाली-गालौज से होती है—जिसका पर्यवसान जाकर हाथापाई, मारपीट, खूनखराबे तक में हो सकता है, अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार! एक दिन मैं देख रहा था कि दो बनिये लड़ रहे थे। यह ध्यान में रखिए कि दोनों जैनी थे और अहिंसा-धर्मपालक थे। अतः गाली गुफ़्तार से आगे बढ़ने की दोनो की मानसिक सामर्थ्य न थी। प्रश्न कुछ पैसे टके का लेकर था। वे एक दूसरे को एक दूसरे की माता तथा भगिनियों के निकट सम्बन्धवर्त्ती स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे, तथा यह भी उद्घोषित कर रहे थे कि दोनों में पुरुषत्व का अभाव है तथा दोनों ही शूकरादि प्राणियों की संतानें हैं। उनके उस सस्वर-सम्भाषण ने काफ़ी मजमा इकट्ठा कर लिया था। तब उन गाली देने वालों के बारे में जो 'समूह' सोचता था, वह भी आप नोट कर लें क्योंकि सुनता हूँ कि आजकल जनता का युग है, अतः जनता की शब्दावलि जानना भी अत्यन्त आवश्यक है। उस जनता से मैंने तीन नयी गालियां सुनी—

एक बोला—'मक्खीचूस' है! वो क्या कोरट में जायगा लड़ने।

दूसरा—चोर वजार करने वाला है। अच्छा है अगर खूब पिटे !

तीसरा—'बनिये' हैं जी—ये क्या खाकर लड़ेंगे !

यह है नये युग की नयी गालियां ! एक जमाने में 'टोडी बच्चा' गाली थी; नौकरशाह — तानाशाह भी गाली थी, गद्दार साम्राज्यवादियों के एजण्ट, यह भी गाली चली। अब नयी गाली है—'काला बाजार करने वाला', 'मुनाफाखोर', 'अन्न चोर', 'कपड़ा चोर', 'थैलीशाह' इत्यादि इत्यादि।

इस प्रकार प्रत्येक युग में गाली का रिवाज बदलता जाता है। पहिले सती न होने वाली स्त्री कुलटा, कुलच्छनी मानी जाती थी। आजकल सती न होने वाली स्त्री तो दूर, विधवा होकर विवाह करने वाली स्त्री गौरवास्पद मानी जाती है। पहिले 'शिखानष्ट' गाली थी, आजकल चुटैयाधारी बौड़म को स्कूल के छोकरे भी मज़ाक का विषय समझते हैं। पहिले 'मुछमुण्डा' बड़ी शर्मकी बात मानी जाती थी, आजकल 'मुच्छल' व्यक्ति हास्य का विषय है। पहिले हैट टाई न पहिनने वाला व्यक्ति असभ्य माना था। आजकल वह 'बाबू' भी हास्यका विषय बन गया है मान बदलते हैं— सभ्यता असभ्यता बन जाती है, असभ्यता सभ्यता। तब 'गाली' का रूप भी बदल जाता है। मुमकिन है हमारे पड़पोतों के जमाने में, जैसे आज हम 'पंडिताऊ' कह कर पुरानी बातों को हँसते हैं, हमारे आगामी वशज 'गांधीवादी' या 'हिन्दूसभाई' कह कर हमारी पीढ़ी के लोगों पर हँसें......

गाली का एक बड़ा भारी उपयोग है, उसमें सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध हमारे व्यक्ति मन द्वारा घोर विद्रोह की चिनगारी छिपी रहती है। वे हमारे मानसिक 'सेफ्टी वाल्व' हैं। यदि गालियाँ न होतीं तो फिर 'भारत दुर्दशा' के पात्र कैसे बोल पाते, और आज का 'अगिया बेताल' कैसे तीखी व्यंग की चुटकियाँ लेता। इस प्रकार सामाजिक बुराइयों पर विदारक प्रकाश डालने का काम ये गालियाँ अवश्य करती हैं।

गाली जिस चीज या संस्था या रिवाज को दी जाती है उसके प्रति तीव्र निषेध या तिरस्कार व्यक्त किया जाता है। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उस वस्तु या चलन के लिए आपके मन में कोई जगह ही नहीं रह जाती। मनोवैज्ञानिक बतलाते हैं कि घृणा या तिरस्कार एक प्रकार से नकारात्मक आकर्षण ही है और नफरत में प्यार छिपा रहता है, अतः जब एक व्यक्ति किसी प्रिया या प्रियतम के विषय में तीव्र निन्दा या तीव्र आलोचना व्यक्त करता है, तब एक प्रकार से वह विरोधी भक्ति ही प्रकट करता है। उस निंदा में यह निहित है कि आकर्षण उसके पीछे कहीं है या था, जो ठीक ठीक सफलीभूत नहीं हुआ।

गाली दे देने से एक दूसरा फायदा यह भी होता है कि क्रोध जो मन में जमा रहता है, निकल जाता है। वह एक तरह से मन के मैल को, घुमड़न को, घुटन को साफ कर देता है। जैसे बादल आये, छाये, बरस गये—फिर आसमान निरभ्र हो गया। पारिवारिक कलहों में अक्सर ऐसा ही होता है। गाली से जहाँ एक ओर लड़ाई बढ़ती है, दूसरी ओर चुक भी जाती है। लेकिन धोबी की गाली ने ही राम की सीता-परित्याग तक परीक्षा ले डाली। इतिहास में कई कहानियाँ हैं कि इस प्रकार की बात चीत ने कई वीरों के सुप्त स्वाभिमान को जगाया और उकसाया है। यदि दक्षिण अफरीका के गोरे वकील मोहन से गालीगलौज से पेश नहीं आते, तो असहकार और सत्याग्रह जैसे शस्त्रों की शोध कहां तक होती, यह विचारणीय है। यों कभी-कभी बुरे में से भी अच्छा फल निकलता है। खाद से ही अनाज बनता है!

यह सब लिख कर मैं साहित्य के शिष्ट संकेतों की बात करने वाला था कि उसमें कुछ गालियां लिखना कैसे निषिद्ध माना गया है परन्तु कई निषिद्ध बातें अब शास्त्र-सम्मत हो गई हैं। कल ही लुई मैकनीस का एक नाटक रेडियो पर सुन रहा था। उसका आरम्भ ही गालियों से होता है। एक सेना से लौटा हुआ रूसी सिपाही है।

वह अपना क्रोध उतार रहा है —'डैम दि आर्मी ! डैम दि कमांडर ! डैम दि......' सभ्य अंग्रेजी समाज या साहित्य में 'डैम' बहुत बड़ा अपशब्द माना जाता है। परन्तु शायद सिपाही के लिए सब कुछ क्षम्य है। मुल्कराज ने तो अंग्रेजी उपन्यासों में भारतीयता लाने के लिए पंजाबी गालियों तक का शब्दशः अनुवाद कर दिया है । मैंने एक सज्जन से सुना था कि एक खब्तुलहवास विद्वान 'गालियों का कोष' तैयार कर रहे हैं। बहुत शुभ समाचार है, उन्हें यदि सहायता लेनी हो तो हिंदी के दैनिक साप्ताहिकादि पर्याप्त मसाला दे सकेंगे। इस दिशा में उन पत्रों के मस्तिष्क उर्वर हैं। एक ओर साहित्य सम्मेलनों के मंच पर अश्लीलता-विरोधी प्रस्ताव बड़े ताव से उपस्थित करने वाले विद्वानों को मैंने घरेलू तौर पर भयानक अश्लील बातें करते हुए पाया । अतः मंच पर मानव चाहे जो मुखौटा पहिने, आखिर कपड़ों के नीचे सब आदमी एक से नंगे हैं। और नंगे को नंगा कहने में कोई गाली तो नहीं होजाती ?

एक कहानी से यह बातचीत खतम करूं। एक बंगाली टोले में 'दे' साहब प्रसिद्ध थे। उनके नाम से उस महल्ले का नाम 'दे गली' पड़ गया। एक परिहास-प्रिय व्यक्ति ने गली के 'ग' को एक मात्रा से विभूषित कर दिया और वह 'दे गाली' पढ़ा जाने लगा। एक फकीर भी उधर से गुजर रहा था, पढ़कर उसने नारा लगाया —'सौ गाली लूँगा, एक पैसा दूँगा।'

[१९४८]
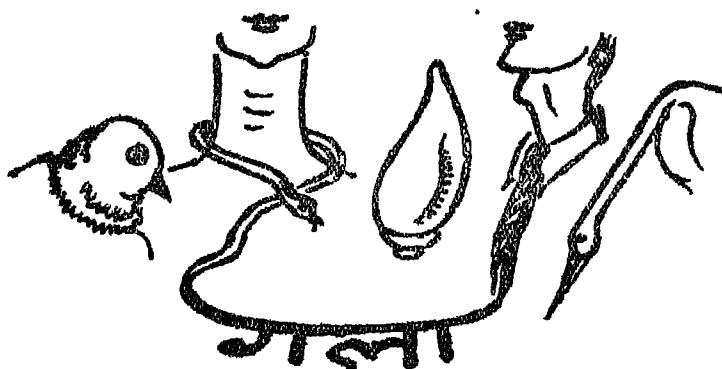
उस दिन एक कविसम्मेलन में भाग लेना पड़ा। वैसे मैं कवि-सम्मेलनों से कतराता हूँ, इसलिए नहीं कि कविता मुझे नापसन्द है। बल्कि इसलिए कि "कवि" नामक प्राणी और पदवी मुझे नापसन्द है। आप कहेंगे, देखिए, कालिदास से लेकर पड़ोसी की गली में रहने वाले और उनके मित्रों द्वारा 'महाकवि' नाम से प्रचारित श्री झुनझुनवाला 'सनकी' तक अनेकानेक कविजन इस जम्बूद्वीपे भरतखंडे हुए, और आप हैं कि जरा सा अँग्रेज़ी पढ़ लिये और हमारी इस सांस्कृतिक संस्था 'कवि' को बुरा-भला कह रहे हैं। आप का कहना बहुत दुरुस्त हो सकता है। मगर बात यह है कि आजकल के कवि-सम्मेलनवादी कवियों में एक आना कविता और १५ आने गला होता है। हमारे एक विनोदी मित्र ने कलाकार के बदले एक नया शब्द रूढ़ किया है "गला-कार"।

अब बात यह है कि परमात्मा की कृपा से यद्यपि संगीत की अच्छाई

बुराई परखने के कान मुझे मिले हैं, तथापि मेरे गला नहीं है, इसका गिला नहीं है। आप कहेंगे कि आप भी अजीब आदमी हैं या राहु हैं कि बस धड़ ही धड़; गला गायब। सो बात नहीं। गला शब्द की अभिधा जो है अर्थात ग्रीवा का अग्र भाग कंठ, सो तो है। शायद कवि-प्रसिद्धियों के अनुसार शंखाकृति ही नहीं खासा शंख-स्वर गला मुझे उपलब्ध है। और आजकल राजनीति और साहित्य दोनों में ही 'शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक्' चल ही रहा है। परन्तु गला शब्द का जो गुणीभूत व्यंग्यार्थ, असंलक्ष्यक्रम-गुणीभूत-व्यंग्यार्थ है, सो नदारद है। क्यों कुछ बात आपके गले उतरी या नहीं? यह सारी बात कहने का प्रयोजन यह कि परसों कवि-सम्मेलन में एक कवि को कुछ 'इन्फीरिएरेटी काम्प्लेक्स' अर्थात हीन-भाव से कहना पड़ा, 'मेरा गला बैठा हुआ है और यों जुकाम भी हो रहा है।' यदि उस कवि का गला बैठा हुआ नहीं, उठा हुआ और चलता हुआ भी होता, तो भी सुनने वालों के लिए तो वह लेटा हुआ ही लगता। कारण यह है कि गला जो लोग कवि-सम्मेलन में सुनना चाहते हैं, वह सिनेमाई तर्ज़, शृङ्गारिक लावनी, दिल-खेंचक कल्पना, मगर फिर भी आसान, जो जल्दी समझ के गले से हलुए की तरह उतर जाय, ऐसा चाहते हैं।

कंठ को अपने यहाँ कम्बु या शंख की उपमा पता नहीं क्यों दी गई है। ज़रूर वह उसके आकार को लेकर ही रही होगी वर्ना कहाँ वाचकधर्म स्वर हुआ तो "दारुण विप्लव माझे, तब शंखध्वनि बाजे," की सार्थकता आधुनिक कवि अवश्य करते होंगे। परन्तु कवि-जन 'उपमा' (मद्रासी खाने का पदार्थ नहीं, अलंकार) चाहे जो देते रहें, मैं आप से उस महान् विश्वासघात की, उस अवर्णनीय धोखाधड़ी की बात कहने जा रहा हूँ, जिसमें मेरे एक परमप्रिय, परम-श्रद्धास्पद मित्र ने बहुत सफाई से मेरा गला काटा। आप कहेंगे कि यदि मेरा गला काट ही लिया गया तो फिर यह गला बजाना मेरे लिए किस प्रकार

सम्भव है। जरा धैर्य से काम लीजिए। मित्र ने कोई भोथरी छुरी लेकर मेरी ही (हारित कहूँ या मराल जैसी कहूँ? खैर वैसे ही सीधे कह डालता हूँ) ग्रीवा पर हलाल अथवा झटके का प्रात्यक्षिक नहीं किया, किन्तु जब मैं कहता हूँ कि उसने मेरा गला काटा, तब मैं आलंकारिक अर्थ में यह मुहावरा पेश करता हूँ। परन्तु यहाँ अलंकार का सवाल ही नहीं था, बिल जो पेश किया था वह बराबर हाथ-सिलाई का और बंगाली कुर्ते का था (जिसे बंगाली 'पंजाबी' कहते हैं।) मगर जब पहनने लगा तो गले में से सिर अन्दर जा ही नहीं रहा था, वर्ना यों कहें कि गला सिर के अन्दर आने से इनकार कर रहा था। अब आप समझ गये होंगे कि मेरे परम मित्र का नाम नामदेव टेलर (उर्फ दर्जी) है और जिस गले के काटने की चर्चा चल रही है, वह मेरा नहीं 'मेरे' कुर्ते का है, जो कि तंग गले के कारण कभी भी मेरा न हो सका।

शरीर-शास्त्रज्ञ कुछ भी कहें, जब जब मैं अपने देश की बात सोचता हूँ, गला भर आता है। मेरा देश कहकर बचपन से जिसे बताया गया था अब जैसे उसका गला ही न रहा! तो अब मैं जो उस पर अपनी 'जान वारी ताँडी सूरत पै' (कृष्णभक्त कवियित्री ताज) करके, शहीद होकर, देश का गलहार बनता तो कैसा होता। पंजाब को यदि भारत-पुरुष का सिर माना जाय तो उसके अर्द्ध-विभाजन की ओर मेरा इशारा है, यह बात शायद आपके गले उतर गई होगी। चिनाब सतलज का मामला बिलकुल गले में अटका है। गले में, शरीरशास्त्री कहते हैं दो ग्लैंड (ग्रंथियाँ, गाँठें) होती हैं, जो आप से आप रस झराती रहती हैं, इन्हें शायद परैथाइराइड कहते हैं। इन पर हमारा विकास अवलम्बित होता है। यदि ये ज़्यादा काम करने लग जायं तो आदमी राक्षसकाय हो जाय, और कहीं कम काम करें तो सब के सब वामनावतार ग्रहण कर लें। यानी गले के बीच में एक

गुटकन्ना सा जो है न, उसकी कहानी यों है : आदम या हमारा पहला पूर्वज जब निषिद्ध फल खा रहा था तो "वह निषिद्ध है, निषिद्ध है," कह कर देववाणी हुई, सो शंकर जी के हलाहल के समान वह अध बीच में ही गले में अटका रहा। 'आदम का सेव' गले के बीच की उस हड्डी को (जो हमारे थूक निगलने या गला भर आने पर या सिट-पिटाने पर नीचे-ऊँचे होती रहती है) कहते हैं।

गले के कई उपयोग हैं। आप गले से कोई भी खाद्य उतार सकते हैं, पानी पी सकते हैं, हवा अन्दर ले जा सकते हैं, जमुहाई ले सकते हैं, खाँस सकते हैं, चोर घर में घुस आये तो चिल्ला सकते हैं, (यह बात अलग है कि मारे डर के गला ऐसे मौके पर फेल हो जाता है)। अगर आप पक्के गाने वाले हैं तो उस बेचारे से कसरत करा कर लोगों को ध्रुपद-धमार सुना सकते हैं, लेक्चर दे सकते हैं : कोई सुने चाहे न सुने। और उसमें अगर आप पुरुष हैं तो नेकटाई या घड़ी का काला डोरा या भड़कीला बुन्दकीदार रूमाल या जनेऊ (या ब्लैकमार्केटर हों तो सोने की कंठी भी) पहन सकते हैं और अगर आप स्त्री हैं तो लाकेट, मंगलसूत्र, माला, कंठी, चन्द्रहार, चेन, मोती की लड़ी, इत्यादि-इत्यादि अलंकार-शास्त्र में न पाये जानेवाले अलंकार पहन सकती हैं। इसी से तो कहा जाता है वह उसका गलहार है। यानी शिवजी के फोटो में पाये जाने वाले काले ज़हरीले गलहार नहीं, इंदुमती के विरह में अज ने जैसा हार हाथ में (यानी गलत जगह) ले रखा था। असल में हार का सच्चा स्थान गला है या हाथ, यह सिद्ध होना बाकी है। कुछ लोग बोलकर हारते हैं कुछ हारकर बोलते हैं। दुलहिन जब वरमाला पिन्हाती है तब वह हाथ में (गलत जगह) जो हार होता है वह गले में (सही जगह) डाल देती है।

मगर हमारे लोकप्रिय वक्ता या प्रसिडेंट के गले में (गलत जगह) जो हार डाला जाता है वह झूठे विनय से झट से हाथ में (सही जगह)

ले लेता है। तब कुछ स्थानान्तरीकरण सा हो जाता है। गलबहियां के बदले हार हाथ आते हैं।

गले के ठीक नीचे दोनों ओर "कालर बोन" है। अब तमाम डिक्शनरियां छान डालने पर भी कालर के लिये मुझे शुद्ध हिन्दी पर्यायवाची नहीं मिला, इसलिये कालर की हड्डी को ऐसे ही लिख रहा हूँ। इनका उभार गले की गोलाई को देखते हुए कुछ अटपटा जान पड़ता है। मगर विधाता, कुछ गले बनाने के बाद, जान पड़ता है, थक सा गया होगा। उसने दो मिट्टी के लौंदे वहाँ चिपटा दिये। मगर कुछ भाग्यवान व्यक्ति लौरेल की भाँति दोहरे गले वाले भी होते हैं, और उनकी कालर बोन मांस-पेशियों की तहों के नीचे विलुप्त प्राय हो जाती है। फिर भी वह उन्हें होती जरूर है। आप कहीं यह न समझें कि कोई उसके बिना ही होंगे। मगर दोगले लोग ऐसे दोहरी ठोड़ी वालों को नहीं कहते वह तो उस्ताद और ही होते हैं जो एक जगह एक कहें, दूसरी जगह और।

गला-पुराण बहुत बढ़ गया। यों तो गले से मिलने वाले कम ही मिलते हैं। गले की बात गले तक ही रह जाती है।

[१९४७]
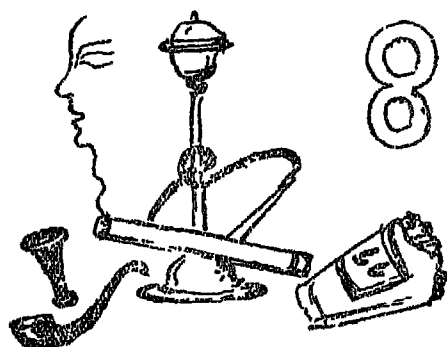
नंबर आठ का जादू

मैं तमाखू मात्र से नफरत करता हूँ। मुमकिन है, आप नवाबी लंबे नेचेवाला हुक्का पीते हों; या अपने आपको 'आर्टिस्ट' साबित करने के लिए लाल टाई लगाकर कुछ बंकिम भंगिमा लिए हुए 'पाइप' होठों में दबाते हों; या मिलिटरी के बहुत मारपीट और भागाभाग की ज़िन्दगी की यादों में सुस्ताकर जुगाली करते हुए लम्बा 'चीरूट' पीते हों; या 'उत्तान-भ्रू' (हाइब्राऊ) बनने की फ़िक्र में लम्बे सिगरेट-होल्डर में रखकर ५५५ पीते हों; या अपनी निम्नमध्यवर्गीय प्रतिष्ठा को बदस्तूर बनाये रखने के खातिर बीड़ी न पीकर सस्ती कैंची छाप या पीला हाथी पनवाड़ी से रोज़ एक के हिसाब में खरीदते हों और उसे आधा-आधा करके पीते हों; या फिर सीधा शेर-छाप 'कड़ा' या कड़क-बीड़ी नम्बर आठ पीते हों, या उससे भी अधिक आदिम तरीके से चिलम का दम लगाते हों—आप चाहे जो करते हों, मुझे तमाखू से सख्त नफ़रत है।

मैं किसी भी भलेमानुस को सुरती हाथ पर मलते हुए, या धूंआ बनाकर उसे मुँह या नथुनों में चक्कर दिलाते हुए, या उसकी गोली बनाकर पान में गटकते हुए, या बार-बार मद्रासियों की भाँति नाक में ठूँसते या 'नस्य' की भाँति व्यवहार करते हुए सहन नहीं कर सकता। मैं हिन्दू-मुसलमान की शादी सहन कर सकता हूँ; एक गान्धीवादी के हाथ में मार्क्स का 'कैपिटल' सहन कर सकता हूँ; परन्तु तमाखू मेरे लिए एकदम-तौहीन-ए-तहज़ीब अथवा सभ्यता के साथ घोरतर मज़ाक है।

मैं एक सिख हूँ और तमाखू मेरे लिए वर्जित है। परन्तु उससे क्या? वर्जीनिया (एक प्रसिद्ध सिगरेट) का इन वर्जनाओं से अवश्य कुछ सम्बन्ध है। मेरा सनातन विश्वास है कि तमाखू भारतीय संसार की कक्षा से बाहर की वस्तु है, क्योंकि संस्कृत में तमाखू के लिए कोई शब्द नहीं। खुद 'तमाखू' शब्द की व्युत्पत्ति देखेंगे तो वह विदेशी है। हम विदेशियों को अपने प्यारे जम्बूद्वीप से धकेल दे रहे हैं, या कहें कि वे 'खुद जाऊँ जाऊँ' का खेल कर रहे हैं, ऐसे वक्त ऐसे दुराराध्य परदेशी व्यसन के प्रति हमारा क्या रुख होना चाहिए? अ० भा० कांग्रेस-महासमिति के सदस्यों को देखिए, कोई तमाखू पीता है? मौलाना आज़ाद का सोने-चाँदी का सिगरेट-केस नजरअन्दाज़ कर दीजिए। पंडित नेहरू शायद कभी-कभी 'स्मोक' कर लेते हैं; मगर मेरे एक अगस्तवादी या नेहरू-वादी मित्र का दावा है कि वह सिगरेट स्पेशल अजवायन की होती हैं और वह उनकी कंठनलिका तथा फेफड़ों को आराम देती है (यह सब वार्ता 'रायटर' के कई सम्वादों की तरह निरी चंडूखाने की गप भी हो सकती है।) सरदार पटेल ने तो बीड़ी यों छोड़ दी जैसे कोई अपना सत छोड़ देता है। अब बोलिए कभी आप कृपलानी या शंकरराव देव जैसे दाढ़ीवादियों के मुँह में तमाखू-नलिका की कल्पना कर सकते हैं? अतः मैं तो ए० आई० सी० सी० में प्रस्ताव रख रहा था कि कांग्रेस का सदस्य वही बन सकता है जो ईश्वर में विश्वास रखता हो, रोज़ आध

घन्टा सूत कातता हो और जिनके अधर तमाखू से अस्पृष्ट हों । परन्तु उधर से किसी ने मुह से चक्करदार धूआँ छोड़ते हुए एक आँख दबाकर मुझे रोक दिया। वर्ना आप क्या यह आवश्यक नहीं समझते कि कांग्रेस-जैसी पावन संस्था से सब तमाखूवादियों का बहिष्कार उर्फ़ 'पर्ज' एकदम होना चाहिए ?

अब भाग्य का अभिशाप देखिए कि मेरे जैसे तमाखू-विरोधी व्यक्ति को इसी पेशे में आना पड़ा। मैं आजकल बीड़ी नम्बर आठ का ठेकेदार, व्यवस्थापक, विज्ञापन-विशेषज्ञ, अपने जिले के लिए 'आर्गेनाइज़र' हूँ। छः साल पहिले मैं ५) माहवार पर एक मामूली मुहर्रिर था। आज मेरी कुछ हस्ती हो गई है। चार मकान मैंने इसी शहर में खरीद लिये हैं। अलावा इसके बहुत-सी रकम 'बिज़िनेस' में अटकी है। परन्तु व्यावसायिक नीतिशास्त्र में यह सब क्षम्य है। कसाईखाना चलाकर जो मुनाफ़ा कमाया जाता है उसका एक शतांश जीवदया-मंडल को दिया जा सकता है; उसी तर्क से, जिससे बनस्पति घी के कारखाने से प्राप्त पूंजी का कुछ विनिमय गो-सेवा-संघ के लिए किया जा सकता है; और 'वार' में कम्बल सप्लाई कर जो मुनाफा हो उस पर जीनेवाले खादी-भंडारों के संचालक युद्धविरोधी नारे लगाकर व्यक्तिगत सत्याग्रह भी कर सकते हैं; या विदेशी शराबों के 'फुलपेज' विज्ञापन छापनेवाले राष्ट्रीय अख़बार की सुर्खी 'शराबबंदी आंदोलन का नया मोर्चा' हो सकती है। बहरहाल परिस्थितियों ने साहब, मुझे इस शर्मनाक हालत में ला पटका कि कहाँ तो मैं तमाखू से चिढ़नेवाला और कहाँ आज कोठों के कोठों बीड़ियाँ स्टाक हुईं मेरे जिम्मे पड़ी हैं। तमाखू पर मैं पल रहा हूँ। फिर भी मेरी आत्मा तमाखू से अशुद्ध नहीं हुई है। वह निर्लिप्त है। जिसे वेदान्ती 'निर्विकल्प-समाधि' कहते हैं, या हिन्दी के सौंदर्यवादी समीक्षक जिस आवेश के साथ चिल्लाते हैं कि हम तो सब 'वादों' से परे हैं (हमें हुक्म न क्रेमलिन से मिलता है, न आनंदभवन से) उस

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः' ढंग से तमाखू और मेरे सम्बन्ध हैं। जैसे :

"दूर हूँ तुम से अखंड सुहागिनी भी हूँ।
हे तमाखूप्रिय, तुम्हारी सेविका हूँ, स्वामिनी भी हूँ।"

इस बीड़ी नम्बर आठ का जादू देखो। खेतों पर मजदूर काम करना नहीं चाहते, जंगल में तेंदू के पत्ते तोड़कर फर्मों से काटकर, दिन में हजार बीड़ी बनायी कि एक रुपया पांच आना फटकार लिया। परिणाम यह है, कि खेत को सँभालनेवाला कोई नहीं है; यद्यपि अन्न सब को जरूर चाहिए। अखबार में पढ़ा कि यू० पी० असेम्बली में रूसी पद्धति की सामूहिक खेती के विरोध में जो तर्क पेश किये गये हैं, उनमें यह भी है कि—हमारी ज़मीन उस लायक नहीं, ट्रैक्टर अमरीका से आने में देर लग जायगी, हमारी जनसंख्या के हिसाब से बेकारी बढ़ेगी, आदि आदि। ट्रैक्टर आयें चाहे न आयें मेरा ज़ाती मकान बीड़ी के ठेके पर बन गया है। मैं खेतिहर मजदूरों को बेहतर रोज़ी दे रहा हूँ—चाहे अन्न का उत्पादन कोई करे या न करे। मालवा गुजरात में तमाखू की काश्त जरूरी चीज़ों (मसलन कपास और अनाज) के बदले बढ़ती जा रही है। क्योंकि मैं बढ़ते दामों में उसे खरीदता हूँ। अर्थशास्त्र की भाषा में विलास और आराम की चीजें (लक्शरीज़ एंड कम्फर्ट्स) जरूरियात (नेसेसिटीज़) को धकियाकर उनकी जगह ले रही हैं। बम्बई में अमरीका के दो जहाज भरा सिर्फ 'स्नो' और क्रीम लदा पड़ा है—डाक्यार्ड की हड़ताल से बेचारा खूबसूरती-पसन्द हिंदोस्तानी उसका इस्तेमाल नहीं कर पा रहा है। ऐसा यह चक्कर है—मुनाफाखोरी जिसकी धुरी है। मैं भी एक छोटा-मोटा मुनाफाखोर हूँ। और जब तक मेरी आत्मा व्यसनों से नफ़रत करती है, सबेरे चार बजे उठकर मैं गीता, ग्रंथसाहब और तुलसी रामायण का क्रमशः पारायण कर लेता हूँ, दिन में दो बार नहाता हूँ और धर्म-प्रिय हूँ, मेरे बिजिनेस में क्या बुराई है ! आखिर बिज़िनेस बिज़िनेस है। नम्बर आठ का जादू यही है। मार्क ट्वेन ने लिखा था :

First God made man. Then He made woman.

Then He felt sorry for man and he made tobacco.

(पहिले परमात्मा ने आदमी बनाया। फिर बनायी औरत। फिर आदमी पर उसे तरस आया। और उसने तमाखू बनायी)

इसीसे किसी अज्ञात कवि ने कहा है:

Tobacco is a dirty weed, I like it.
It satisfies no normal need, I like it.
It makes you thin, it makes you lean.
It takes the hair right off your bean.
It's the worst dark stuff I have ever seen.
I like it.

(तमाखू एक गन्दी वनस्पति है। फिर भी मैं उसे चाहता हूँ।
तमाखू से कोई स्वाभाविक इच्छा की पूर्ति नहीं होती। फिर भी मैं उसे चाहता हूँ।
उससे तुम दुबले पतले हो जाते हो।
तुम्हारी चाँद गन्जी हो जाती है।
यह सबसे खराब गन्दी काली चीज़ है।
फिर भी मैं उसे चाहता हूँ।)

अब तमाखू-विरोधी-संघ की शीघ्र ही स्थापना करने वाला हूँ। मुनाफा काफी हो चुका है। नम्बर आठ का जादू मैं बढ़ाते हुए (८८८ × ८८८) ⁸⁸⁸ तक पहुँचा देना चाहता हूँ।

अब मुझे पता चला है कि क्यों किसी आदरास्पद पवित्र नाम के पीछे श्री श्री एक हजार आठ लिखा जाता है। इस अष्ट भुजाओं वाले अंक में कई अष्टावक्रों का अष्टम स्थान छिपा हुआ है और इसी से रुपये के

वैसे भी आठ गुणा आठ हैं और आने भी आठ दुआ सोलह हैं। जीवन गणित के अष्टपाद की अठखेलियों से चलता है। 'अष्टछाप' के कवियों की अष्टधातु-मूर्तियों को साष्टांग दंडवत करने से नहीं; और न आठो-याम नायिकाओं पर आठ-आठ आँसू बहाने से। संस्कृत अष्ट, लतीनी-यूनानी ओक्टो, डच-जर्मन आख्ट, पुरानी अंग्रेज़ी आह्टा, प्राकृत-पंजाबी-पाली अट्ठ, अंग्रेजी 'एट' का यह चमत्कार है! आठ दिक्पालो! साक्षी रहना तमाखू से मेरी आत्मा अछूती है।

[१६४७]
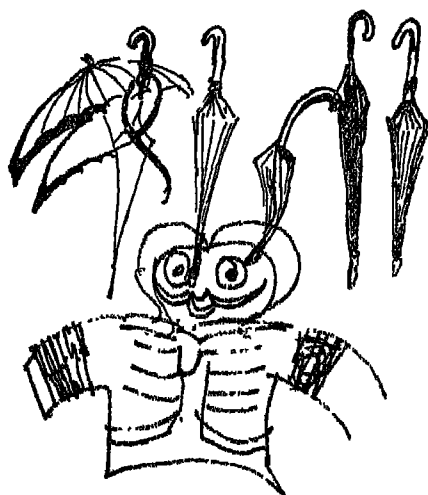
आप का छातेके बारे में क्या मत है, मैं नहीं जानता, परन्तु मैं छाते को मनुष्य जाति का एक बहुत बड़ा उपकारकर्त्ता समझता हूँ। कल्पना कीजिए कि आप रास्तेसे जा रहे हैं और उधर से एक मोटर फर्रसे चली आई और आपके और मोटर के बीचमें कीचड़सने पानीका एक गड्ढा है। आप अपने छाते का उपयोग एक ढालकी भाँति कर सकते हैं। और मोटर भी नहीं, कोई अनावश्यक व्यक्ति उधरसे जा रहा हो जिससे आप मुँह छिपाना चाहते हों—चाहे जिस कारण से क्यों न हो— छाता आपकी मदद के लिए सदैव प्रस्तुत है।

इस कारण मेरा मत है कि छाता, जिसे आदमी ने शायद 'कौए की छतरी', उर्फ़ कुकुरमुत्ता देखकर सबसे पहिले ईजाद किया, मनुष्य की रक्षा-प्रवृत्तिका प्रतीक है। आदमी बचना चाहता है, पानी से इसलिए छाता, जाड़ेसे इसलिए ओवरकोट, गर्मीसे इसलिए ख़सकी टट्टियाँ। जो आदमी

बचना नहीं चाहता, वह किसी की छत्रछाया भी पसन्द नहीं करता। गङ्गाघाट पर ये बड़ी-बड़ी छतरियां लगाए बैठे पोंगा-पण्डित, नामके सन्त-महन्त पता नहीं किस चीज़ से बचना चाहते हैं। अवश्य ईश्वरके कोपसे बचना चाहते होंगे, क्योंकि उन्होंने पाखण्ड कितना फैला रखा है यह क्या सर्वज्ञ ईश्वर नहीं जानता होगा! किसी न किसी शुभ दिन गङ्गामें ऐसी बाढ़ आये कि ये सब छतरियां स-छत्री-छाया-वासी साधुओं के, डूबकर बह जायं तो दुनिया की पीठसे बहुत-सा कल्मष मिट जायगा।

तो हां, मैं छातेकी बात कर रहा था। जिस दिन आप डर रहे हों कि आसमान में बादल हैं और अब वे ज़ोरसे फट पड़ेंगे, वर्षा आवेगी ही, उसी दिन आप देखेंगे कि दिनभर छाता लिये आप डोलते रहिए —गरजेंगे सो क्या बरसेंगे —मसल सार्थक हो रही है। और इससे उलटे आप किसी दिन छाता ले जाना भूल गए कि अवश्य राजा इन्द्र, ज़ोरसे मूसल चलाने ही लगे। मानो राजा इन्द्र या वरुण आपके छाता न ले जानेकी ही राह देख रहे हों। बरसातके साथ-साथ मेंढक, सावन-भादोंपर कविताएँ और "छाता बनवा लो छाता" पुकारनेवाले आपको सहसा दिखाई देने लगेंगे। पता नहीं, इतने दिन ये कहां छिपे थे? जहां उधर छहर-बूंद बरसने लगी, हमारे बाबुओंने अपने छाते ताने और आदमी और बरसात का यह संग्राम शुरू हो गया। इसमें कभी-कभी आपने देखा है कि हवा जब उलटी बहती हो और पुराना छाता पुराने समाजी निज़ामकी तरह पूरी तरह उलट गया हो, तब कैसा आनन्द आता है? आप छातेको सँभाल रहे हैं और भींग रहे हैं; छाता है कि आपके कब्जे से बाहर होता जा रहा है और तब छाता बजाय एक मित्र होने के एक शत्रु जान पड़ने लगता है, ठीक जैसे मित्रराष्ट्र सुविधानुसार शत्रुराष्ट्र भी होते जाते हैं।

नज़ीर मियां ने 'बरसात' पर एक बहुत यथार्थवादी कविता लिखी

है। जान पड़ता है कि उनके वक्त तक छातोंका चलन इतना न रहा होगा। इसी से वे उस समयके रेनकोट यानी 'लोई' का ज़िक्र करते हैं—

हैं जिनके तन मुलायम मैदेकी जैसे लोई।
वो इस हवा में ख़ासी ओढ़े फिरे हैं लोई॥
और जिनकी मुफ़लिसी ने शर्मोहया है खोई।
है उनके सिर पे सिरकी या बोरियेकी लोई॥
क्या-क्या मची हैं यारो, बरसात की बहारें!

इसलिए यदि छाते का इतिहास लिखा जाय तो उसमें छाते के दादा-परदादा कहीं-न-कहीं टाटके बोरे या कम्बल के लम्बे आच्छादन के रूपमें आपको मिल जायंगे। किसी भलेमानस के हाथ छाता सम्हाले-सम्हाले दुख गए होंगे, या मुमकिन है छाते सब पैरेशूटवालों ने ले लिये हों, सो उस छातेको सारे शरीरपर आवृत करनेके मोह से किसी 'मैकिन्टोश' ने आधुनिक रेनकोट बनाया हो!

एक छाता वह भी होता है, जो अक्सर विलायती मेमें शौकिया उठाये-उठाये फिरती हैं। अपनी नज़ाकत दिखाने के लिए, कि हिन्दुस्तान की गर्मी उनसे सही नहीं जाती। सरकसमें तार पर नाच करने वाली छोकरियोंके हाथों में वैसे जापानी फूलदार हलके छाते आपने देखे होंगे। वे सिर्फ़ नामके ही छाते हैं। जब आकाश में बादल छाए हों, तब ऐसे छाते किसी कामके नहीं। वे तो सिर्फ बाहरी दिखावट के ही छाते हैं, जैसे कई आदमी नामके ही आदमी होते हैं; वक्त पड़ने पर वे काम ही नहीं आते।

छातेके मामले में अक्सर शिकायत यह होती है कि लोग उन्हें भूल जाया करते हैं। यानी किसीके मकान पर आप उसे भूल गये हों, और किस मकान पर भूले हों यह भी आप भूल गए हों तो भी उसे शायद खोज निकालना सम्भव है। परन्तु यदि आप उसे ट्राम या बसमें; रेल या तांगे में भूल गए हों तो? और भूलनेसे भी अधिक उनका

आपस में गलती से अदल-बदल जाना बहुत सहज बात है। मगर ऐसे अदलने-बदलने में कभी आप फ़ायदे में भी रह सकते हैं; जैसे आप का छाता पुराना, जालीदार, फटा हुआ हो; और उसके बदले में मिला छाता बहुत अच्छा निकले, तो? पेंसिल, रूमाल और छाता यह कई आदमी अक्सर ख़रीदते नहीं, भूल से किसी दूसरे का ही काम में लाते रहते हैं। छाते की मांग भी बहुत रहती है, इस माने में कि आप के मित्र आप के यहां आये हैं, पानी बरस रहा है, उन्हें लौटना है, उनके पास छाता नहीं है : 'मैं अभी लौटा दूँगा, ज़रा अपना छाता तो देना—।' और फिर एक बार छाता गया कि गया। छाता नयी किताबों की भांति इस प्रकार उड़ जाने का अभ्यासी है। वह बहुत कम लौटकर घर पर अपने पुराने स्वामी के पास आता है।

छाते का यह और लाभ है। वह आप को अनचाहे परोपकारी बना देता है। मान लीजिये आप छाता लेकर जा रहे हैं और पास में एक आप का परिचित, मित्र, जानपहिचान वाला भीगता हुआ जा रहा है। वह अवश्य ही आप की छत्र-छाया में आवेगा। ऐसे समय एक मराठी हास्य-लेखक ने अच्छा उपाय सुझाया है कि किसी और दूसरे को भी आप उसी छाते में बुला लीजिये और तब आप बीच में छाते की डण्डी थामे चल रहे हैं और दोनों ओर से टप्-टप अभिषेक दोनों मित्रों पर बराबर हो रहा है, जो आधे-आधे छाते के बाहर हैं ही—इस प्रकार दोनों मित्र जल्दी ही आपके छाते की शरण छोड़ कर वैसे ही भाग जायेंगे जैसे अल्पसंख्यक पाकिस्तान से।

कन्ट्रोल के दिनों में छातों का रंग कुछ कच्चा होता है। कल्पना कीजिये एक बहुत सुन्दर, नये, धुले कपड़े पहिने, कालेज कुमार प्रेम-याचना करने ऐसा कन्ट्रोल में खरीदा छाता लेकर चला है। रास्ते में मेघराज ने कृपा की, और वह छाते के प्रताप को न जानता हुआ, अपनी ही धुन में 'पियाऽमिलन को जाना' गुनगुनाता हुआ

चला जा रहा है। और उसकी प्रेयसी उसे मिलती है—उसकी यह दशा देखती है कि न केवल यह हब्शी सा रंग उठा है, मगर उसके कपड़े भी कृष्ण-बिन्दु-रंजित हैं, तब सम्भव है कि यह रूपासक्तिवाला प्रेम टूट भी जाय, और तब 'छाते के प्रति—' उसे विरह-काव्य भी लिखना पड़े—'अहह निर्मम ओ मम छत्रिका!'

दर्शनशास्त्र में एक विभाग नीति शास्त्र का भी होता है, जिसमें मनुष्य-कर्म की अच्छाई-बुराई उसके हेतु और प्रयोजन ('मोटिव' और 'इंटेशन') से ठहराई जाती है। मसलन, दान के हेतु से सोने की ईंट भिखारी के सिर पर फेंक कर मारी और उससे उसका सिर फूट गया और लहू बहने लगा, तो भी मेरा कर्म नैतिक दृष्टिसे शुद्ध है, 'सु' है; इससे उलटे मैंने बुरे इरादे से, खराब नियत से एक सोने की मणि भी किसी को अलंकार रूप में दी तो अशुद्ध है, वह कर्म 'कु' है। इस प्रकार हमने 'छाते' को लेकर आदमी की नीतिमत्ता को परखने के लिये निम्न समस्या बनाई थी। इसका उत्तर आप जैसे देंगे उसपर आपकी चारित्रिक अच्छाई-बुराई, आपकी उदारता-संकीर्णता, स्वार्थ-परमार्थ-परता, आपका मानवता-प्रेम इत्यादि इत्यादि गुण अवलम्बित हैं। मैं अपना उत्तर अन्त में दूँगा ही।

मान लीजिये आप के पास एक ही छाता है, और आपको रास्ते में एक व्यक्ति मिलता है, जो पानी से भीग रहा है, तो आप निम्न बातें कर सकते हैं—

(१) अपना छाता उसे दे दें, (यदि वह चोरी का छाता है तो हेतु 'कु' है) खुद भीगते हुये चलें। या,

(२) उसे अपने ही छाते में बुला लें और साथ साथ चलें। (मान लीजिए वह व्यक्ति एक महिला हो तो फिर आपके हेतु की शुद्धता में शंका होगी)। या,

(३) आप उसे एक नया छाता खरीद दें। या,

(४) उसके दुःख में समभागी होने के लिये अपना छाता मूँद कर उसी के समान भींगते हुए चलें। या,

(५) उसे अपना छाता किराये पर दें या बेच दें। या,

(६) दुनिया के दुःख से एक दम कातर होकर छाता फेंक दें कि ओह, इस दुनिया में इतने बे-छाते वाले हैं, और मैं ही अकेला छाता ताने हूँ। या,

(७) मित्र को मीठा-मीठा उपदेश दें—देखो, ऐसे बे-छाते वर्षा में नहीं घूमना चाहिए, निमोनिया हो जायगा, तुम्हें छाता लेकर ही चलना चाहिये। या,

(८) उसे कुछ पैसे दें—कि अच्छा तुम भी ऐसा छाता खरीद लेना (और जब वह कहे यह पैसे थोड़े हैं, आप जोड़ सकते हैं—बोरिया ही ले लेना)। या—

मैं यह करूँगा कि उस साथी को फुसला कर अपना छाता उसे अधिक दामों में बेचूँगा और उसे पता भी नहीं लगने पायेगा कि मैं एक छाते का एजण्ट हूँ और बीच में कमीशन खाता हूँ। यों परोपकार का परोपकार, व्यापार का व्यापार हो जायेगा।

पत्नी-सेवक-संघ

आजकल सेवक-सङ्घों की धूम है। राष्ट्रीय-स्वयं-सेवक-सङ्घ, गांधी सेवा-सङ्घ, हरिजन-सेवा-सङ्घ, ग्राम-सेवा-सङ्घ, गो-सेवा-सङ्घ, और उन्हीं सेवक-सङ्घों का सब से नया नमूना—मज़दूर-सेवक-सङ्घ आदि आदि देखकर हमारे विनोदी मित्र ने एक नया सङ्घ बनाया है 'पत्नी-सेवक-सङ्घ'। इसकी नियमावली आपके सामने है। उससे आपको साफ़ पता लगेगा कि सेवा और सेवकाई की ओट में अपना वर्गाधिकार बराबर बनाये रखने का कार्य पति-जन और स्वामी-जन कर रहे हैं अथवा नहीं। यही परमपवित्र सदुद्देश्य इस पत्नी-सेवक-सङ्घ की स्थापना के पीछे कार्य कर रहा है।

उद्देश्य—पत्नी-सेवक-सङ्घ का उद्देश्य पत्नियों की सेवा करना तथा उसके द्वारा पति और पत्नी के बीच में सङ्घ-भावना बढ़ाना, यही रहेगा। इस उद्देश्य के अन्तर्गत पुत्र-सेवक-सङ्घ, पुत्री-सेवक-सङ्घ, सास-

ससुर-सेवक-सङ्घ, साला-साली-सलहज-सेवक-सङ्घ आदि छोटे-मोटे सङ्घ भी आ सकते हैं।

स्थापना—जिस दिन आदम ने हव्वा को, मात ने खेपेरा को, ही-एमीबा ने शी-एमीबा को, मनु ने इड़ा को या कामायनी को ('प्रसादजी' जानें) दुनिया के प्रथम पुरुष ने प्रथम स्त्री को पत्नी के रूप में ग्रहण किया उस दिन से इस सङ्घ की अवैधानिक (इनफ़ार्मल) रूप से स्थापना हो गयी थी। वैसे आधुनिक काल में, 'आधुनिकाओं' के पति-जनोंको; जब से पत्नियां स्वावलम्बी और कमाऊ होने लगीं, तब से स्वामियां को ऐसे सङ्घ को रजिस्टर्ड कराने की ओर ध्यान देना पड़ा है।

सदस्य—इसका सदस्य कोई भी पत्नी का सेवक हो सकता है। अंगरेज़ी में व्यंग-भाव से 'मुर्गी-चोंचित (हेन-पेक्ड) माने जाने वाले सब व्यक्ति इसके स्वयमेव, स्वयंभू सदस्य हैं ही। इस सङ्घ की कोई भी सदस्य पत्नी नहीं हो सकती। ध्यान रहे जैसे मजदूर-सेवक-सङ्घ के नेता मज़दूर नहीं, भद्रलोक हैं, वैसे ही पत्नी-सेवक-सङ्घ के कार्यकर्ता पत्नीत्व से विभूषित नहीं हो सकते।

यहां पति और पत्नी शब्द की परिभाषा देना अनुपयुक्त नहीं होगा। चूँकि एक ही वाक्य में परिभाषा अव्याप्ति या अतिव्याप्ति-दोष से भरी होगी, अतः पति और पत्नी के लक्षण अनेक वाक्यों से दिये जावेंगे।

पत्नी किसे कहते हैं?

(१) पत्नी वह है जो हिन्दू, तुर्की, ईसाई, हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी किसी भी भाषा-संस्कृत-धर्म-रूढ़ि-पद्धतिसे 'व्याहता' बनी हो। 'व्याहता' शब्द के अन्तर्गत गन्धर्व-विवाह, राक्षस-विवाह आदि रीतियों से परिणीताएँ भी शामिल हैं। अर्थात् व्याह का बंगाली रूप—'बीए' नहीं चलेगा। वर्ना सभी 'बी० ए०' शुदा लड़कियां विवाहिताएँ मानी जायेंगी। विवाह सम्बन्धी अनुभव कई 'बी०ए०' से पहले प्राप्त कर चुकी

हो सकती हैं, परन्तु सभी बी०ए० का 'बीए' नहीं होता; और इसका विपरीत भी ठीक हो सकता है।

(२) पत्नी वह है जो पति को अपना अनुचर, सेवक, दास, सेक्रेटरी, बैरा, भृत्य, चरणरज समझती हो। वैसे पति की वह स्वामिनी है। बंदिनी से अधिक बंधनों की स्वामिनी उसे कहना उचित होगा।

(३) पति के पैसे टके की वह ट्रस्टी है, ठीक जैसे पूँजीपति श्रमिकों के और कांग्रेसी आजादी के।

(४) पत्नी वह है जो पति से सदा लड़ती रहे। किसी भी दोष से वह सदा क्षमित है; चूंकि दोष कभी भी पत्नी का नहीं होता दोष पति का ही होता है। कि जिस क्षण से वह 'पत्नी' बनी वह निर्दोष है। वर्ना वह कुमारी, अविवाहिता, सुश्री और क्या-क्या ही नहीं रहती।

(५) पत्नी वह जो तलाक़ मांग नहीं सकती। पत्नी का तलाक़ मांगना उतना ही ख़तरनाक है जितना मज़दूरों का उत्पादन के साधनों पर स्वामीत्व मांगना,

पति किसे कहते हैं?

(१) वह मच्छड़ जो बहुत भिनभिन करता है, परन्तु जिसके काटने से मलेरिया नहीं होता (याद रहे, 'अनाफ़िलीस' मलेरिया मच्छर में भी मादा अधिक शैतान है) या वह नख-रद-विहीन सर्कस का पालतू पशु—जो कभी हिंसक और वन्य रहा होगा—अब रिंगमास्टरनी के चाबुक पर चलता है। वह पुरुषार्थहीन सिंह जो लक्ष्मी की पूजा करने का ही उद्योग करने में निरत है।

(२) पति वह व्यक्ति है जो पत्नी पर एकच्छत्र स्वत्वाधिकार रखता हो: जैसे जर्मनी पर हिटलर, इटली पर मुसोलिनी, जापान पर मिकाडो। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि इन पत्नियों की ओर से लड़नेवाले—ऐंटी-फैशिस्ट जब तक पैदा नहीं होते, तब तक पत्नियों की तानाशाही चल सकती है।

(३) पति वह है जो हमेशा चिन्ता से उद्विग्न, महा-परेशान और इसी से सदा पत्नी नामक रोग के सम्बन्ध में उसी प्रकार चर्चा करता रहता हो और उससे इसी प्रकार आतङ्कित रहता हो जैसे मिल-मालिक रेलवाई हड़तालियों से।

(४) पति वह है जो केवल पत्नी का ही नृपति नहीं है, गण-पति, कुटुम्ब-पति, प्रजापति और तनख्वाह-पति भी है। इस प्रकार से वायसराय के वेटोकी की तरह, या पैरिटी के बाद भी बची हुई आज़ाद मुस्लिम सीट की तरह, पति-पत्नी-समानता के बाद भी पति के पास कुछ अधिक है जो 'दैवायत्त' अधिकार होने से अनिर्वचनीय है।

(५) पति वह बद्ध-पुरुष है जो प्रकृति द्वारा शादी के खूंटे से बँधा हुआ एक लद्दू बैल है; उस कहानी का बूढ़ा या बेटा या गधा है, जिसका सारांश है—'तुम हर एक को खुश नहीं कर सकते'; विधना की वह गलत प्रूफ़रीडिंग है जिसे सुधारना अशुद्धि-पत्र देकर भी सम्भव नहीं; वह उपाधि है जो कि कुमारों और विधुरों को नहीं लगाई जाती, यद्यपि वे पतित्व से पूर्व या पश्चात परिचित हो सकते हैं। सेक्स के बिजलीकरण का दूसरा नाम पतिदेव है।

अब इस संघ का कार्यक्रम—

(नोट—हर एक राजनैतिक-सामाजिक संस्था की भांति इसका दिखावटी कार्यक्रम और है; अन्दरूनी सच्चा कार्यक्रम और। पहिला ओपन पण्डाल में प्रस्ताव है; दूसरी शिमला-दिल्ली की पर्दा-नशीन गुफ़्तगू है। पहिला पूज्य बापू के चरणों में अक्षत-चन्दन है; दूसरा नफ़ील्ड या मैकगोवेन से गुप्त-अर्थ-सन्धि-पत्र है। पहिला संस्था के मुख-पत्र का स्तम्भ-शीर्षक है; दूसरा 'पार्टी लेटर' है।)

अतः पत्नी-सेवक-सङ्घ के दिखाने के दांत यों हैं :—

(अ) दुनिया भर की तमाम पत्नियों का सङ्गठन।

(खानेके दांत—सङ्गठन के बुर्के के भीतर उनसे चूल्हा-चक्की करवा लेना, बराबर शोषण करते रहना)

(आ) पत्नियों की मानसिक और माली हालत सुधारना।

(खाने के दांत—थोड़ा बहुत लालच देकर पति लोग अपना उल्लू सीधा करें !)

(इ) पत्नी के पत्नीत्व की अभिवृद्धि करना।

(खाने के दांत—इस प्रकार पतित्व के सम्बन्ध में आश्वस्त रहना, युगों युगों तक !)

[१९४५]

काठ छेदने चले सहस-दल की नव पंखड़ियां भूले...,

किसी भौंरे के प्रति 'एक भारतीय आत्मा' की एक षट्पदी में यह उक्ति है। सचमुच, आजकल क्या जीवन और क्या साहित्य में रसकी कमी देखकर यही जी होता है कि कहें—सब काठ हो गये हैं, काठ ! या सुसंस्कृत रीति से कहूँ तो काष्ठ-कीट हो गये हैं।

दो कवि थे। दोनों को बात एक ही कहनी थी कि शहर में एक सूखा पेड़ है। पर एक ने कहा—शुष्कोवृक्षस्तिष्ठत्यग्रे, दूसरे ने कहा—'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः।' कहने-कहने में फर्क होता है। एक पार्लमेंटरी ढंग है कि यह कहा जाय—'माननीय विरोधक महोदय ने मेरे कथन के अभिप्राय को पूर्णतः आत्मसात् नहीं किया है।' दूसरी यह ठेठ शैली है कि कहें—'विरोधी अमुक-अमुक तो निरा काठ का उल्लू है !' मैं घण्टों यह चिंता करता रहा हूँ कि यह उलूक

महाशय जो गाली बन गये, ये 'काठ' के ही क्यों बताये गये। वैसे उल्लू मिट्टी के, लोहे के, ताँबे के, कागज के भी बनाये या बताये जा सकते थे। पर काठ से क्या विशेष प्रयोजन है ? क्या काष्ठ के सम्पर्क से उसके उल्लूपन में कोई खास इज़ाफा हो जाता है ? कोई भाषा-शास्त्रज्ञ मेरी इस महान जिज्ञासा और शंका का यदि समाधान कर सकें तो महा-कृपा होगी।

काठ के साथ दूसरा मुहावरा जो उतना ही प्रचलित है, वह है 'काठ की हाँड़ी चढ़ै न दूजी बार।' ऐसा कौन सामान्यज्ञानविरहित (कामनसेन्सलेस) व्यक्ति होगा, जो कि काठ की पहिले तो हाँड़ी बनाये और सो भी जलते काष्ठों पर रख दे। फिर भी कहावत बड़ी अच्छी है। और झूठे के झूठ की पोल खूब खोलती है।

गत महायुद्ध में जब से विराट् परिमाण में जंगल कटे और जलाऊ लकड़ी या ईंधन की समस्या तीव्रतर होती गयी, तब से काष्ठकार (लकड़-हारे) भील आदि लोगों की उदर-निर्वाह की समस्या भी तीव्रतर होती गयी है। एक वह भी समय था, जब हमारे पुरखे आर्य ऋषि काठ पर काठ रगड़ कर, 'अरणि' से अग्नि पैदा कर लेते थे; कन्द-मूल से निर्वाह चल जाता था। आज तो फर्नीचर के दाम भी कितने बढ़ गये हैं ! श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित को मास्को के अपने भारतीय राज-दूतावास में स्टाकहोम से फ़र्नीचर लाना पड़ा। वैसे देखा जाय तो प्राचीन भारतीय सभ्यता में 'फ़र्नीचर' नामक कोई वस्तु नहीं थी, फिर भी बिना 'रिवाल्विंग चेअर' और बढ़िया सालमारिक (स+अलमारी से बना विशेषण) मेज़ के भी व्यास-वाल्मीकि महाकाव्य लिख गये ! और आज बेचारे कुमार कवि या लेखक के पास बढ़िया पार्कर है, ग्लेज़्ड नोट पेपर है, बिजली का पंखा है और सिर के बालों में छप्पन देशों की सुगन्धियों का सार (इसेन्स) वाला 'स्नेह' (तेल) है; फिर भी उसकी प्रतिभा है कि छः पंक्ति की तुकबन्दी के आगे बढ़ती ही नहीं ! इसका

मूल कारण हमारे एक विनोदी मित्र के मतानुसार इन दो-तीन हजार वर्षों के बीच जंगलों का कटना है। जब जंगल थे तब व्यास-वाल्मीकि जटा-जूट-युक्त श्मश्रु-बहुल अपने चेहरे को जंगल की तरह रखते थे; उनके विचार भी मुक्त वायु और विराट कल्पना-तरुओं से सुशोभित रहते। अब जंगल के जंगल झूठ में परिणत हो कर, कट कर फैक्ट्री में जा अखबारी कागज़ बनकर, रोज़ सवेरे-शाम तीन चौथाई झूठ और एक चौथाई सच के मिश्रण को लेकर हमारे समाने आते हैं! जंगल साफ़ होगये हैं। चेहरे भी साफ़ और दिमाग़ भी—और जंगलीपन हमारे स्वभाव में आगया है। लकड़ी के होल्डर से लेकर (जिससे मैं लिख रहा हूँ) बड़ी-बड़ी इमारतों और नौकाओं में भी लकड़ी का, ऐसी कसरत से उपयोग होने लगा है कि सचमुच सभ्यताके लिए कहना पड़ता है कि उसे खासा 'काठ चबाना' पड़ा है!

परन्तु काठ का हमारे जीवन से गहरा सम्बन्ध है। जन्म पाकर बचपन में काठ के पालने में झूले, मरने पर भी काठपर चढ़ा कर ले गये और काठ में ही जले। देह को संतों ने 'काठ का घोड़ा' यौंही नहीं कहा! कभी-कभी बेचारा कोई गुनाह कर बैठता है और जेल वाले उसे काठ मारते हैं। काठ न होता तो आग नहीं होती और आग न होती तो पाक-कला कैसे विकसित होती? कुछ लोग काठ में से भी रस पैदा कर देते हैं: कठखुदाई (वुडकट) बड़ी कला है। बाँसुरी काठ की ही बनी है, पर गुमान उसके बड़े हैं। एक बाजा काष्ठतरंग कहलाता है। काठ के ये ठाठ हैं।

एक कीड़ा होता है, जिसे काष्ठ-लेखक कहते हैं। पुराने मकानों के खंभों-बल्लियों पर अक्सर चित्र जैसे निशान देखे होंगे। एक पुरातत्वज्ञ महोदय के बारे में कहते हैं कि उन्होंने एक पुराने काठ पर ऐसे ही निशानों को देख ब्राह्मी लिपि समझ उसे पढ़कर इस काष्ठ-लेख के

सहारे डाक्टरेट प्राप्त की। बाद में पता लगा कि वह लेख-वेख कुछ नहीं, दीमक की खाई लकड़ी थी!

काठ चीरना भी बड़ी कला है। इस कला ने भी बड़ी प्रगति कर ली है। जहां पहले आराकश दिन भर में एक शहतीर चीर पाते थे वहां मशीन फर्र-फर्र शहतीर के शहतीर चीरती (निगलती) चली जाती है। पर हमारे यहां तो हवाई जहाज़ के साथ बैलगाड़ी भी दिखाई देती है। कहीं कहीं आज भी आराकश एक उपर और एक नीचे बैठा आरा चलाते दिखाई दे जाते हैं। उन्हें देख मुझे सदा ईसप (पंचतंत्र के भी) उस बन्दर की याद हो आती है जो एक चिरे काठ में लगी कील उखाड़ने गया और उसकी दुम उसमें फँस गयी। परन्तु आजकल जो कला सिखाई जाती है, उसमें काठ की पेंसिल से, काठ के चौकोर या तिकोनी गट्टों (ब्लाक) के चित्र बनाना सिखाया जाता है! कला भी बेचारी काठमारी सी हो गयी है।

काठ का शिक्षा से भी गहरा सम्बन्ध कभी था, जब कि गुरु और छड़ी का निकट सम्बन्ध था। छड़ी हीन गुरु खोजे नहीं मिलता था। आज तो यह है कि दंगों के दिनो में करफ़्यू में लकड़ी ले जाने के खिलाफ़ इतनी कड़ाई थी कि डी० एफ० कराका अपनी पुस्तिका 'लेट फ्रीडम नाट स्टिक' में लिखते हैं कि बम्बई के उनके एक मजिस्ट्रेट दोस्त को टहलने की लकड़ी भी ले जाने के लिये सरकारी इजाज़त हासिल करनी पड़ी। चार्ल्स लैंब ने साहित्य की बड़ी अच्छी परिभाषा दी है—साहित्य बैसाखी नहीं; टहलते समय की छड़ी है। (लिटरेचर इज़ नाट ए क्रच बट ए वॉकिंग स्टिक!)

इस छड़ी के विषय में एक संस्कृत कविने सुन्दर श्लोक पद कहा है—

या पाणिग्रहलालिता सुसरला तन्वी सुवन्शोद्भवा
गौरी स्पर्शसुखावहा गुणवती नित्यं मनोहारिणी।
सा केनापि हृता तया विरहितो गन्तुं न शक्तोऽस्म्यहं...

(जिसका हाथ पकड़ कर मैंने प्रेम किया; जो सरला थी, दुबली पतली थी, अच्छे वंश में उत्पन्न हुई थी, गुणवाली, उजली, छूने में सुखदा थी, मन हरने वाली थी—उसे हाय, किसी ने चुरा लिया। उसके बिना चलने में मैं असमर्थ हूँ...)

काठ की और चीजें अपने दैनिक जीवन में हम काम में लाते हैं। रेलगाड़ी काठ की बनी होती है। वैसे ही बैलगाड़ी के सब पहिये भी। और चरखे पर, जो काठ ही का बना रहता है, यह उक्ति देखिए—

रे रे यन्त्रक ! मा रोदी. क कं न भ्रमयन्त्यमूः।
कटाक्षाक्षेपमात्रेण कराकृष्टस्य का कथा ॥

(मियां चरखे ! रो क्यों रहे हो ? जानते नहीं, किसके हाथ पड़े हो ! ये तो वे सुन्दरियां हैं जो अपने कटाक्ष-मात्र से सबको घुमा डालती हैं। फिर तुम तो उनके करों से आकृष्ट हो, तुम्हारी क्या कथा ?)

प्राचीन काल में जब आदमी कम अक्लमंद था और अणु-रहस्य पर समितियां नहीं बैठती थीं, किसी युद्ध में किले के दरवाजे तोड़ने के लिये बड़े-बड़े काठ के लट्ठों से काम लिया जाता था। काठ के घोड़े में यूनानी सिपाहियों को छिपाने की युक्ति यूलिसिस काम में लाया था। कई शस्त्रास्त्र काठ के होते थे। धनुष और बाण लकड़ी के बने होते हैं; परन्तु दोनों के स्वभाव के अन्तर पर संस्कृत कवि की अनूठी उक्ति देखिए—

कोटिद्वयस्य लाभेऽपि नतं सद्वंशतां धनुः।
असद्वंश्यः शरः स्तब्धो लक्षलाभाभिकाङ्क्षया ॥'

अर्थात् 'हानि-लाभ दो ही छोरों (अंतों) के मिलने पर अच्छे वंश (बांस) में उत्पन्न होने वाला धनुष नम्र हो गया है। नीच वंश में उत्पन्न होने वाला बाण लक्ष (निशाना और लाख रुपये) पाने की इच्छा से ज्यों-का-त्यों निश्चल खड़ा है !' धनुष चलाते वक्त बाण नहीं

नमता, प्रत्यंचा नमती है। नीच और ऊँच में यही स्वभाव का अन्तर होता है। ऊँचा अपनी ग़लती कबूल करता है, नीच कभी नहीं। वह तना का तना रहता है। 'रहे काठ के काठ !'

'काठ' पर यह लेख जब एक दोस्त को सुनाया, बोले—'ट्रैश' (कूड़ा) है, जला देने लायक है; क्योंकि हमारे मित्र महागम्भीर प्रकृति वाले हैं। आधुनिक साहित्य में 'ब्रिलियन्ट नान्सेन्स' जैसी शैली में कुछ परिहास-निबन्ध लिखे जाते हैं, यह बात वे नहीं जानते। वे परिहास नहीं समझते। तब मैं बोला—जलाओगे किससे ? दियासलाई से ही न ? और वह सींक बनाने में भी आखिर क्या लगा है ? वही उत्तर फिर लौट कर आया—

'काठ !'

मैं परसों मराठी पत्र का एक दीपावली विशेषांक पढ़ रहा था। मराठी के सुप्रसिद्ध हास्यलेखक श्री दत्तूबांदेकर ने 'स्वाक्षरी आणि सन्देश' नामक एक बहुत ही सुन्दर लेख उसमें लिखा है। आजकल स्कूली छोकड़ों और क्वचित् कालेजियनों को भी जो 'आटोग्राफ-हंटिंग' यानी बड़े छोटे सब तरह के लोगों के हस्ताक्षर बटोरने का ख़ब्त या शौक या मर्ज़ या कुछ भी कहिये लगा है, उस पर उसमें बहुत बढ़िया व्यंग था। एक ऐसे ही विद्यार्थी साहब सबेरे-सबेरे 'आटेग्राफ' लेने निकले। हज्जाम महाशय मिले। उन्हों ने आटेग्राफ दिया—

'रक्त-विहीन क्रांति सम्भव है। परन्तु रक्त विहीन हजामत असम्भव'!

फिर मिले पोस्टमैन। उन्होंने सन्देश दिया—'पत्रों के उत्तर कम दो। हमारा काम हलका करो'! आगे एक हलवाई या होटल-वाले साहब मिले। उन्होंने लिखा—'तुम अधिक अनाज पैदा करो। हम

उसका अधिक नाश करेंगे।' एक लँगड़ा मिला। उसने कहा—'लँगड़ा कुछ भी हो; पलायनवादी नहीं होता।' इत्यादि इत्यादि।

उसी कल्पना के आधार पर मैं सोचने लगा कि इस 'जन-युग' में अगर कोई आगरा शहर के आटोग्राफ इकट्ठा करने लगे तो उसे क्या-क्या मिलेगा? बरसों से मैं आगरे गया नहीं हूँ। आठ बरस पहिले वहां दर्शन-शास्त्र पढ़ता था। तब की पहिचान है। 'सैनिक' में 'अज्ञेय' थे। उनके साथ आगरे के काफी गली-कूचे घूमा हूँ। मगर जो टाइप मैं यहां चुन रहा हूँ, वे आठ बरस या अट्ठारह बरस के व्यवधान से कम अधिक नहीं हो जाते। आगरा संस्कृति ज्यों की-त्यों रहती है (क्यों सच है न?)

तो एक ऐसा ही आटोग्राफ-हंटर यानी हस्ताक्षर और 'सन्देश' बटोरने वाला राजा-की-मन्डी स्टेशन पर उतरा और वहां से चला। अब आप जानते ही है कि राजा की मण्डी में न तो एक भी राजा रहता है, न वहाँ कोई मण्डी है। 'टूरिस्ट' समझ कर उसके इर्द-गिर्द कच्चे पत्थर के ताजमहल सच्चे संगमरमर के कह कर बेचने वाले कुछ अजीबोगरीब व्यापारी, इक्के-तांगे वाले, होटल-गाइड और निठल्ले इकट्ठा हो जाते हैं। उनमें से हर एक का आटोग्राफ:

१—'कच्चे पत्थर के ताजमहल ही लोग ज्यादह खरीदते हैं, क्योंकि अक्सर लोग कच्चे दिल वाले होते हैं।'

—मियां बशीरुद्दीन खिलौने वाले

२—'लाला लोग इक्के पर ज्यादह चलते हैं, क्योंकि उतना ही पैसा बचता है, और वह लड़की की शादी में इकट्ठा खर्च हो जाता है।'

—नन्हे इक्कावाला

३—'बाबू लोग जो कहारों को मशीन समझते हैं, उनसे एक दिन के लिये हमारा काम लिया जाय तो अक्ल दुरुस्त हो जावे।'

—हलकू, होटल का कहार

४—'सामान उठाने वाले अगर एक दिन के लिये न हों तो सामान उठवाने वालों का क्या होगा ?'

—खैराती कुली

५—'हम भीख इसलिये माँगते हैं कि अगर नहीं मांगें तो लोग इस स्टेशन को सूना-सूना समझेंगे ।'

—दीनू, एक भिखारी

स्टेशन से आगे चले, ठण्डी सड़क लगी। यही वह बदनाम सड़क है जिसके दोनों ओर दो कॉलिज, हिवेट होस्टल, तेजबहादुर सप्रू की झोपड़ी, सेंटजॉन का लड़कियों का होस्टेल, नागरी-प्रचारिणी-सभा, साहित्य-सन्देश कार्यालय, एक ओर बजाजी टोला, दूसरी ओर सिविल-लाइन्स, कुछ आगे चले जाओ तो छावनी और क्या क्या नहीं है ? हमारे हस्ताक्षर बटोरक ने ठण्डी सड़क उर्फ ड्रमण्ड रोड उर्फ आगरा-बाम्बे-रोड से सन्देश मांगा उसने कहा—'मिलिट्री लारियों ने मेरी काया को भी इस तरह परेशान कर रखा है कि इस वक्त मुझे सन्देश देने को फुरसत नहीं ।'

अब कुछ साहित्यिक लोग मिले। नागरी प्रचारिणी सभा में 'कमलेश' कविवर बैठे थे । उनसे कहा—'सन्देश' ? उन्होंने बिगड़ कर, कहा—'सन्देश ? मैं स्वयम् सन्देश हूँ ।' और वे उदयपुर में कवि सम्मेलन की (दुर·) घटना ? सुनाने लगे । आगे मिले साहित्य-सन्देश कार्यालय में 'सन्देश' खाते हुये महेन्द्रजी । उन्होंने 'सन्देश' की एक प्रति दी और मौन रह गये। यही उनका सन्देश था।

बाग मुजफ्फर खां में रांगेय राघव 'अजेय संगीत' गाते हुये मिल गये। उनके पास तालिक्तिन्ना की ताल पर कोई साथी 'बापू जिन्ना बापू-जिन्ना' की पुनरावृत्ति कर रहे थे। उनसे सन्देश मांगा गया। उन्होंने शर्त रखी, हमारी एक लम्बी कविता रूसी रण-संग्राम पर सुन कर जाओ फिर सन्देश ला लेना। सन्देश वाहक शर्त से घबड़ा कर आगे खिसके। सेंट-

जॉन्स कॉलिज में मिले बुढ़ापे में भी 'फिर निराशा क्यों?' कहते हुए 'नवरसा'-चार्य दर्शन-साहित्य-पण्डित लाला बाबू गुलाबराय। सन्देश मांगा तब बोलते हुए वे कुछ अटक रहे थे फिर भी उन्होंने कहा—नये ग्रन्थ में मैंने इसका उत्तर दिया है। सन्देश मैं क्या दूंगा? मैं आप लोगों के साथ हूँ। आदि-आदि-आदि (जिसका कोई अन्त नहीं)।

वैसे तो आगरे में अन्य अनेकानेक धुरन्धर साहित्यिक मिल जाते पर ठण्डी सड़क का बन्धन था। आगे चले तब रास्ते में एक बड़ी सी कोठी मिली। परिचय प्राप्त हुआ कि हिन्दी प्रकाशन पर सर्वाधिक द्रव्य लाभ करने वाले सज्जन मेसर्स........एण्ड सन्स का यह दुर्ग है। इतने बड़े आदमी से सन्देश तो क्या मिलना संभव था। हाँ! अगर यूनिवर्सिटी के या बोर्ड के कमेटी-काण्ड में हमारे हस्ताक्षर-बटोरक कुछ होते तो संदेश क्या, चाहे जो कुछ आपको उनसे मिल सकता था? आगरे में ऐसे अनेकानेक पुस्तक पकानेवाले, परोसने वाले और जूठन तक बटोरने वाले हैं जो आपको संदेश केवल एक ही देंगे—'दुनियां में सिर्फ उस किताब की दूसरी आवृत्ति या एडीशन होता है; जो 'कोर्स' हो जाती है।' किताब का 'कोर्स' हो जाना यह शब्द कम जादू भरा नहीं है।

हस्ताक्षर-बटोरक यूनिवर्सिटी पहुँचे। सर्वत्र सुनसान। स्मशान-शांति। एक लाइब्रेरी। बगीचा। पेन्शनरों के सवेरे फुटबौल खेलने के स्थान। यह है 'सा विद्या या विमुक्तये' का विमुक्त दृश्य। कहा भी है कि मुक्तावस्था बनवासी की निकटतम अवस्था है। यहां एक मैदान है, जहां एक दो महीने पहिले युनिवर्सिटी का कन्वोकेशन हुआ था। उस मैदान से हमने संदेश मांगा। उसने कहा—'ये चोगाधारी बीए, एमे बेटा जानते नहीं कि पढ़ लिख कर के भी आगे क्या भाड़ झोंकेंगे? और भी बहुत कुछ लिखा। यों—विद्या वही जो मुक्ति देती है।

अन्त में हमारे हस्ताक्षर बटोरक ने सोचा कि न तो इक्के पास

वालों के सन्देश पर्याप्त रहे न साहित्यकों के और न निर्जीव चीजों के, अब कुछ ऐतिहासिक स्थानों के इमारतों आदि के सन्देश लिये जायँ। सो पहुँचे सिकन्दरे। यहाँ अकबर महान सोये हुए हैं। इसी 'काफ़िर इस्कन्दरे की ककड़ी' पर नज़ीरमियाँ (उर्दू के प्रसिद्ध शायर) ने बहुत ही प्रगतिशील रचना की है। सिकन्दरे ने आटोग्राफ देते हुए कहा—'अकबर का भी आखिर सिकन्दरा बन गया। इसलिए इन छोटी-मोटी राजनैतिक दल-बन्दियों के नेताओं का क्या होगा? अहंकार न कर'। यह सन्देश कुछ सिकन्दरे की भांति ही गम्भीर हो गया इसलिए हमारा हस्ताक्षर बटोरक इतमादुद्दौला पहुँचा। उसने सन्देश दिया—'एक दिन नसीब का चक्कर फिर जायगा। किसे पता था कि नूरजहाँ बेगम बन जायगी। इसलिये ज़रूर अहं में विश्वास कर।'

हस्ताक्षर-बटोरक आगरे के किले पहुंचा। वहां शाहजहां जहां मरा था उस चमेलीबुर्ज ने सन्देश दिया—'बेटे का भी विश्वास मत करो। अपने से उत्पन्न, अपनी सृष्टि का भी विश्वास न करो।' हस्ताक्षर-बटोरक ने सोचा—परन्तु यह तो औरङ्गजेब का सन्देश होता, जो कि महान शक्की था। शायद उसने कहा होता—अपने पूर्वजों का विश्वास मत करो, अपनी जड़ों का, अपने स्रष्टा का विश्वास मत करो।

आखिर वह घूमता-फिरता ताजमहल पहुँचा और उसने उस 'बेगम के रौज़े' से आटोग्राफ़ मांगा। ताज चुप! उसने उससे फिर सन्देश मांगा। ताज ने मौन सन्देश दिया—'जो प्रेमी और प्रेयसी के बीच में रहस्यमय है, गुह्यातिगुह्य है उसे इस प्रकार खुले आम प्रदर्शित करने की मूर्खता फिर न करना। क्योंकि इस युग के शाहजहाँ पहिली पत्नी के शव पर ही दूसरे विवाह की चिन्ता करने लगते हैं। अनन्यता छलना है।'

वह अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि 'आटोग्राफ मांगना सब से बड़ी मूर्खता है'—यह आटोग्राफ जो उसके मित्र ने उसे दिया था, वही सच है।'
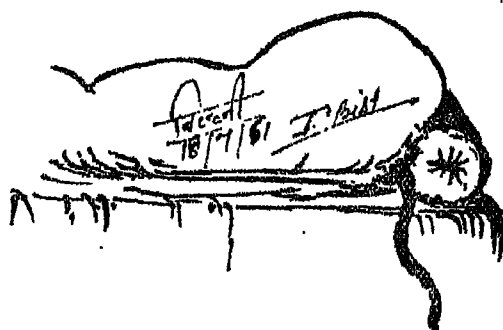
तुम सब कुछ हो फूल, लहर तितली, विहगी, मार्जारी,
आधुनिके ! तुम नहीं अगर तो नहीं सिर्फ तुम नारी !

—सुमित्रानन्दन पंत (ग्राम्या)

हमारी बिल्ली और हम से ही म्याऊँ ? जी हाँ, आज कल यही ज़माना आ गया है। स्त्रियों को पुरुषों के बराबरी के समानाधिकार चाहिएं। बिल्ली बाघ की मौसी जो ठहरी। बिल्ली में और स्त्रियों में दुनिया भर के साहित्यिकों ने बहुत समानता खोजी है। शायद बिल्ली की मूँछें एक मात्र अन्तर है ।

जो भी हो, बिल्ली में स्त्रियोचित गुण सभी हैं। उतनी ही लजीली, कोमल, स्वरमात्र से संवेदनाशीला, कंजी आँखोंवाली, दुग्धप्रिया, शांत,

चुपचाप, आँख मूँदे एक कोने में बैठी रहने वाली, जैसे निरुपयोगी केवल एक खिलौना मात्र, बच्चों को पालनेवाली ममतामयी, और भी बहुत विशेषण लिखता, परन्तु सम्भव है लेख की पाठिकाएँ मुझ पर कुपित हो जायँ। और कुपित हो जाने पर बिल्ली भी आँखें नोच लेती है, जब वह चारों ओर से अपने आपको घिरा हुआ पाती है। कुपित स्त्रियों का अनुभव भी हमारे बहुत से पाठकों को होगा।

बिल्ली और लड़की की समानता में एक मराठी हास्य-लेख में मैंने पढ़ा कि एक ऐसे ही पतिदेव ने कि जिसकी पत्नी यह सन्देह करती थी कि उसकी अनुपस्थिति में उसके पास अन्य स्त्रियाँ आती हैं, उस पत्नी को छकाने के लिए एक युक्ति रची। संध्या समय, धुँधलके में जब कि पत्नी के लौटने का समय था, उसने बिस्तरे में रज़ाई से तकिये पर अपनी कालीस्याह बिल्ली को इस प्रकार उढ़ा कर सुला दिया कि उसकी काली, सुन्दर पूँछ बाहर लटकती रहे और यों जान पड़े कि किसी सुन्दरी युवती की वेणी या लम्बी गुँथी चोटी है। श्रीमती जी सक्रोध कमरे में प्रवेश करती हैं, और गुस्से में आकर उस मुई सौत की चोटी पकड़ कर घसीटना चाहती हैं, और बजाय रक़ीबा के उन्हें ज़बान से मूँछें चाटती हुई उनकी प्रिय 'मिनी' या 'श्यामा' या 'किटी' या 'पुसी' जो भी उसका प्यारा नाम हो, वह बिल्ली दिखाई देती है।

इसी लिये संस्कृत के विद्वान सुभाषितकार कह गये हैं—

दुःखाङ्गारकतीव्रः संसारोऽयं महानसो गहनः।
इह विषयामृतलालस मानसमार्जार! मा निपात ।

(अर्थ—हे मनरूपी मार्जार! यह संसार विकट रसोई-घर है। दुःखों के अंगारों से यह तप्त हो रहा है। तू विषयरूपी अमृत को चाहता है। इस घर में न आ। भला यहाँ अमृत जैसी शीतल वस्तु की प्राप्ति कहाँ?)

यह मनरूपी मार्जार बड़ा विकट है। यह हज़ार चूहे खाकर हज को जाना चाहता है। अंगरेज़ों का विश्वास है कि बिल्ली के नौ जन्म होते हैं। पता नहीं क्यों नो ही मानते हैं। वैसे तो म्याऊँ का मुँह कौन पकड़े ! कई पुरुष सिंह पत्नियों के आगे यों हो जाते हैं जैसे भीगी बिल्ली। तर्कशास्त्र में इस पर हास्यास्पद प्रमेय (सिलालिज्म) है—

नो कॅट हॅज़ नाइन टेल्स

ए कॅट हॅज़ वन मोर टेल दॅन नो कॅट

∴ ए कॅट हॅज़ टेन टेल्स

बिल्ली के बारे में भाषाशास्त्री ने बताया कि बिल्ली के खाविन्द बिल्ला आखिर पदक के लिए क्यों प्रयुक्त हुए इसमें राज़ है। संस्कृत में बिडाल के दो अर्थ हैं—बिल्ली और आँख की पुतली (यानी महा-देवी की कविता—

तुम बने रहो आँखों की सित-असित पुतलियाँ बनकर,

मैं सब कुछ तुम से देखूँ तुमको न देख पाऊँ पर।

इन पंक्तियों में पुतली के स्थान पर यदि 'बिल्लियाँ' होता तो!) और बिडालपद या बिडालपदक। बिडाल पदक का अर्थ है १६ माशे का वज़न। मार्जार का अर्थ है बिलार या बिलाव या बिल्ला। परन्तु मार्जारकंठ या मार्जारक का अर्थ होता है मोर! मार्जारी का अर्थ मुश्क या कस्तूरी भी होता है। और 'मार्जारकरण' का अर्थ यहाँ नहीं बताया जा सकता, अश्लील जो है! अंगरेज़ी में 'कॅट' से अनेक शब्द और मुहावरे हैं और वे भी बड़े मज़ेदार—'बिल्ली राजा की ओर देखे!' का अर्थ है किसी खास व्यक्ति को ही डाँट-फटकार बताना; 'बिल्ली देखो किधर कूदती है' यानी ऊँट किस करवट बैठता है; 'आखिर बिल्ली झोली से कूद ही तो पड़ी'—यानी भेद खुल गया; 'क्या कुत्ते-बिल्ली की ज़िन्दगी है!'; 'पानी कुत्ते-बिल्लियों में बरसा' (यानी मूसला-धार वर्षा); 'बिल्ली की बोली' सभा-भवन में बोली जाने लगी और

उसकी आँखें 'बिल्ली की आँखें' हैं, यानी अँधेरे में भी तेज़ देखती हैं। वैसे कैथैराइन विलसन का 'दी कॅट' निबंध बहुत ही सजीव है।

प्राणी-शास्त्री से बिल्ली के बारे में पता चला कि बिल्ली का जन्म से मृत्यु तक हिसाब ही कुछ और है। आदमी और बन्दर गर्भ में ९ महीने तक रहते हैं। नमगादड़ ६ महीने; बड़ी जंगली बिल्ली, चीते, बाघ, सिंह १२ से १६ महीने; सेई ३½ महीने; सूअर और हाथी दो बरस और घरेलू पालतू बिल्ली केवल ५ महीने ! चीन और मेक्सिको की बिल्लियों के बदन पर बाल ही नहीं होते। मॅन्क्स नामक बिल्ली के पूंछ ही नहीं होती। सभी बिल्लियों की ज़बान काँटेदार होती है (कुछ महिलाओं की भी !) बिल्ली बत्तख़ के बच्चे पालती है। मगर ख़रगोश के चट कर जाती है, मार डालती है। बिल्ली की उम्र १५ से ४० बरस तक होती है।

बिल्ली के बच्चे बड़े प्यारे होते हैं। बच्चे उनसे बहुत प्यार से खेलते हैं। रवीन्द्रनाथ टाकुर के 'खोका' में 'आमि का नाई मास्टर', नामक कविता है, जिसमें एक बचा बिल्लियां को विद्यार्थी बनाकर गुरु-स्थान पर बैठा कहता है—

> आमि बोले—च-छ-ज झ-ञ
> ओई बोले—म्याऊँ-म्याऊँ

एक और कवि की परेशानी बता कर यह लघु-निबन्ध समाप्त करूँ ! उन्हें दिल्ली शब्द की कोई अच्छी सी तुक ही नहीं मिल रही थी— 'खिल्ली' उड़ी; 'झिल्ली' भी आँख पर आ गई; 'तिल्ली' कोई पेट में बढ़ी नहीं थी। अंततः मैंने सुझाया कि इस दिल्ली की अगर कोई सच्ची, सही तुक है तो सिर्फ है—बिल्ली !

उन्होंने पूछा—"क्यों ? दोनों में क्या साम्य है ?" मैंने कहा— बिल्ली चूहे मारती है; दिल्ली में भी अनाज को बचाने के लिए चूहे मारने की विस्तृत योजना बन रही है। बिल्ली को मलाई बहुत प्रिय है,

'क्रीम' की ('स्नो'—और क्रीम की भी शायद) बिक्री दिल्ली में काफी होती है। बिल्ली गुस्सा आने पर बदन फुलाकर दुम ऊपर उठा देती है, दिल्ली गुस्सा आने पर आ० इं० रे० पर कुछ गुरगुराहट की आवाज़ अधिक बढ़ा देती है। मगर इसमें ज़्यादा लंबी इस उपमा को तानना ठीक नहीं, नहीं तो 'बंदर और दो बिल्लियों वाले किस्से की याद आ जायेगी।

अभी अमरीकी मासिक 'कैमेरा' का जून १६४८ का अंक देखा। उसमें एक स्यामी बिल्ली की आँखों का सुन्दर 'फोटू' खींचने पर ५०० डालर इनाम मिला है! और यहाँ मुझे और एक स्थानान्तर की बिल्ली का स्मरण हो गया। जार्ज बर्नार्ड शॉ के नाटक 'सीज़र और क्लिओपैट्रा, के प्रथम अंक में दोनों के प्रथम मिलन में प्रथम प्रश्न में क्लिओपैट्रा पूछती है—'तुमने एक सफेद बिल्ली को इस रास्ते से जाते हुए तो नहीं देखा?' सीज़र पूछता है—'क्यों, तुम्हारी खो गई है क्या?' क्लिओपैट्रा कहती है—'हाँ वही पवित्र सफेद बिल्ली, यह भयानक नहीं है क्या? मैं उस बिल्ली को यहाँ स्फिंक्स के आगे बलि देने लाई और वह शहर की एक काली बिल्ली के साथ भाग गई। क्या वह काली बिल्ली मेरी नानी की नानी की नानी होगी?'

सीज़र (उसकी ओर ताक कर)—नानी की नानी की नानी? और बिल्ली? हो सकता है। आज की रात मुझे किसी बात पर आश्चर्य नहीं होगा।"

× × × ×

संपादक महाराज! लेख ज़रूर छापना और कहीं यह लौट कर आ गया तो समझूँगा कि डाकगाड़ी का रास्ता बिल्ली काट गई!

[१६४८]

मुसल्ला फोड़, तसबीह तोड़, किताबें डाल पानी में—

किसी संत का यह पद सेवाग्राम की सायं-प्रार्थना में मैंने सुना था तबसे मुझ जैसे किताबी कीड़े के दिमाग में बड़ी कुलबुली मची। आदमी किताबों के बिना कैसे जी सकता होगा? छपाई की कला से पूर्व मनुष्य की क्या हालत रहा होगी? आज तो यह स्थिति है कि बड़े शहरों में होटल का छोकरा, मेहतर और ताँगे वाला भी सवेरे का पर्चा (अखबार) न पढ़े तो ऐसा अनुभव करता है कि कुछ उसका खो गया है। (देखिए, विल्स सिग्रेट का इश्तहार—आपका कुछ खो गया है! असल में अंग्रेज़ी के 'यू आर मिसिंग समथिंग' का यह अक्षरशः अनुवाद है!) मगर मेरे जैसे आदमी को सबसे बड़ी सजा यदि कोई दे सकता है तो वह यह कि सात दिन तक तुम्हारी आंखों को छपे हुए अक्षरों से विरह सहना पड़ेगा। मैं सच कहता हूँ, मैं पागल हो जाऊँगा

बात यह है कि मुझे व्यसन किसी बात का नहीं, न पान, न तम्बाकू, न चाय, न अन्य पेय का। व्यसन है तो सिर्फ पढ़ने का। सोचता हूँ, उससे कैसे उबरूँ? और तब किसी सुंदरदास या मलूकदास की यह उक्ति सुनी—किताबें डाल पानी में! तो हर्ष-विह्वल हो उठा।

सचमुच आजकल छपने से पहले प्री-सेंसर की शर्त पर, अर्थात सरकारी अनुमति माँगी जाने पर हमारे मुद्रण-स्वतंत्र्य और विचार-स्वातन्त्र्य पर जैसे घोर धक्का लगता-सा जान पड़ता है, परन्तु हिन्दुस्तान देश में और विशेषतः हिन्दी भाषा में पत्र-पत्रिकाओं की यह मच्छर-खटमलोंसी बढ़ती हुई जन-संख्या देख कर मन होता है कि शहर में दस सड़े-गले परस्पर गाली-गलौज देने वाले अति अशुद्ध मुद्रित दैनिक छपने की बजाय यदि एक शानदार दैनिक अधिकृत रूप से निकले तो कितना अच्छा हो! रूस की आप चाहे जितनी निन्दा करें—हमें इस मामले में उसका तरीका पसन्द है, एक 'प्रावदा' एक 'इज़्वस्ताया'! तिब्बत में भी एक ही समाचार-पत्र है। पचास 'हिन्दू राष्ट्र' ओर 'आर्यसन्मार्ग' और 'नास्तिक' और 'बलिया समाचार' और 'भोंपू' और 'हमारी आवाज़' आदि का आल-जाल वहाँ नहीं है!

पत्र-पत्रिकाएँ तो आप चाहे रोक दें; किताबों के प्रकाशन पर क्या नियंत्रण होगा? नेपोलियन का क़िस्सा सुनते हैं कि वह जिस घोड़ा-गाड़ी में सफ़र करने जाता, कई किताबें साथ ले लेता और पढ़ता जाता। जहाँ दिल ऊबा कि खिड़की से उसने पुस्तक राह में फेंक दी। बुरी पुस्तकों के लिये मलूकदास जी का जल समाधि वाला निर्णय किसी को क्रूर जान पड़े तो अग्नि-समाधि वाला निर्णय तो दिया जा चुका है कई बार। बेचारे क्रांतिकारियों की किताबें यूरोप में होली सदृश जलाई गईं। अश्लीलता के नाम पर पुस्तकों पर रोक लगा कर उनकी बिक्री बढ़ाने का अमरीकी तरीक़ा अब यहाँ भी धीरे-धीरे बरता जाने लगा है। कई किताबों की अश्लीलता कवर तक ही सीमित रहती है।

मगर एक बात है कि 'किताबें डाल पानी में' आदेश का अक्षरशः अनुशीलन करने के उपरान्त कहीं संत तुकाराम की गाथा की भांति यदि वे तैर कर ऊपर आ जायँ तो ?

मुझे किताबों की चाट लगी है। कहीं भी, कैसी भी, कोई भी, किसी भी अगम्य भाषा-लिपि में होने वाली किताब से मैं इस प्रकार चिपट जाता हूँ जैसे इंश्योरेंस-एजेंट अपने संभाव्य ग्रहक से। मेरी इस आदत के कारण अपने इस दिमाग़ को मैंने ख़ासा अजायबघर बना लिया है। कई बार सोचता हूँ, जब दोस्त कहते हैं—'क्या अख़बारों में इधर-उधर क़लम घिसा करते हो, कुछ स्थायी वस्तु लिखो, साहित्य में शाश्वत सत्यों की प्रतिष्ठापना करो, क्यों अपनी प्रतिभा (जिसके अस्तित्व के बारे में मुझे शंका है) को ज़ाया करते हो।' तो उन्हें जवाब दूं—'यार तबियत तो ज़िन्दगी में एक ही किताब लिखने की है और वह है एन्साइक्लोपीडिया!' मगर सब चीज़ें तबियत से थोड़े ही चला करती हैं—'जेई चाई तेई पाई ना!' रवीन्द्रनाथ कह गये। इस पर मुझे एक कहानी याद आ गयी। एक बार विद्वन्ममंडली में एक समस्या दी गई कि मान लो तुम्हें एक द्वीप पर निर्वासित कर दिया गया है और तुम्हें सिर्फ एक किताब अपने साथ ले जाने की इजाज़त है, तो तुम कौन सी किताब साथ ले जाओगे ? तब किसी ने 'गीता' कहा, किसी ने 'विश्व का इतिहास' तो किसी ने रसल के 'गणित सिद्धांत'। एक हल्के-फुलके तबियत वाले ने बताया— कायरो नामक हस्तरेखा-विशेषज्ञ का 'विश्व भविष्य', दूसरे ने कहा —जिल्दसाज़ी की कला! (यानी इस निमित्त से अन्य किताबें उसे मिलेंगी)। अन्त में एक मुझ जैसे मसख़रे की बारी आई। उससे पूछा गया—अपने साथ कौन सी एक किताब ले जाना पसन्द करोगे ?

वह बोला—डिक्शनरी !

किताबों के इस शौक़ की कहानी अनन्त है। 'जब आप यह चाहते

हैं कि कोई पाठक आपको अपने पाँच मिनट दे, तब उसके पीछे कम से कम आपके पाँच दिन का अध्ययन होना चाहिए और उसकी पाँच पंक्तियाँ वह तभी पढ़ेगा जब आपने पाँच सौ किताबें पढ़ीं और पचाई हों!'—एक मराठी लेखक का कथन है! यह गोइटे की उस गर्वोक्ति से कम नहीं कि—'लेखक जब लिखे तो यह समझे कि पाँच लाख आदमी उसे पढ़ने जा रहे हैं!' यहाँ तो यह हाल है साहब कि आप लिखे और खुदा बाँचे! सम्पादक तो पढ़ते ही नहीं, लेखक का नाम खासा रौबीला पढ़ कर ही छाप देते हैं; कंपाज़ीटर आँख मूँदे पढ़ते हैं, तभी 'भगिनी' के प्रथमाक्षर पर अनुस्वार दे डालते हैं। यहाँ पठन-पाठन एक मन को समझाने का बहाना है। हिन्दी के साहित्य-कार की कौन सी किताब है जो एक लाख छपी-बिकी हो? बताइये? यह लक्ष की बात अलक्षित है। सिर्फ़ हम चिल्ला भर लेते हैं कि हिन्दी तीस करोड़ की भाषा है; अखबार हिन्दी का एक भी नहीं जो एक करोड़ तो दूर पचास लाख भी छपता हो। अतः हम अपनी कुल्हिया में गुड़ फोड़ लें, वैसे गली-गली में अपने आपको शेक्सपीयर और गोर्की मानने वाले हमारे यहाँ कम नहीं।

तो मैं कह रहा था ग्रन्थ-संग्रह के शौक़ की कथा! असुरिया के राजा सार्डनापोलस का एक ग्रन्थ-संग्रह ईसापूर्व चार-पाँच हज़ार बरस पुराना मिला है। उस में सब ग्रन्थ ईंटों पर और पत्थरों पर खुदे हैं और ऐसे बीस हज़ार ग्रंथ हैं। ख़लीफ़ा उमर ने वह सात लाख किताबों का ज़खीरा जो अलैक्ज़ैंड्रिया में था, जला दिया। उसके सिपाहियों ने किताबों का ईंधन की भांति उपयोग कर खाना पकाया। गत महायुद्ध में ख़लीफ़ा उमर के वंशज नाज़ियों ने कुछ सुन्दर लाइब्रेरियां पैरिस में जलाईं - और निप्पन-पन्थियों ने चीन में। परन्तु वहां का एक क़िस्सा सुनते हैं कि पर्सिपोलिस का ग्रन्थ-भण्डार जला कर जब ख़लीफ़ा और ऐसे ग्रन्थ-संग्रह जला रहे थे, किसी चतुर सेनानी ने सलाह दी—

जलाओ मत ! ये आलसी किताबें ही पढ़ते रहेंगे । किताबों के अभाव में ये लड़ने की ठानेंगे । सचमुच जहां जहां मन को सुसंस्कृत बनाने के ये साधन ग्रंथालय, वाचनालय आदि नहीं होते, वहीं फ़ाशिस्ती मनोवृत्ति बढ़ती है । एक स्कूल में, जहां विद्यार्थियों के लिए 'रीडिंग-रूम' नहीं था, यह पाया गया कि दीवारें विद्यालय में पढ़ने वाली विद्यार्थिनियों और अन्य कई श्रेष्ठ व्यक्तियों के नाम फ़ोश और बीभत्स गालियों से रँगी हुई हैं ।

हमारे देश में पहले ग्रन्थ-संग्रह की प्रथा नहीं थी क्योंकि विद्या सब मुखोद्गत थी । घनपाठी, शतपाठी, एकपाठी लोग होते थे, जो स्मृति से कंठाग्र श्लोकों के अंबार याद रखते । वे जीवित ग्रन्थालय थे । कुछ लोग जीवन के नौ से छत्तीस वर्ष वेद पठन में बिताते । लिखना निषिद्ध था । अलबेरुनी ने लिखा है कि ६५० ईस्वी में काश्मीर में पहली वेदों की 'क़लमबन्दी' हुई । मैक्समूलर ने अपना ऋग्वेदानुवाद लिखते समय जो अनेक प्रतियां शोधीं उनमें एक हस्तलिखित सोलहवीं सदी की प्रति थी । उससे भी पुरानी एक १३४२ ईस्वी की प्रति मिली है । फ़ाहियान ४०० ईस्वी में पुस्तक-संग्रह के लिए भारत में आया था—परन्तु बौद्ध-काल में उसे लिखित पोथी मिली ही नहीं सब ज्ञान भिक्षुओं के मुख से वह ग्रहण करे तो उसे प्राप्त हो ।

परन्तु आगे चल कर 'ग्रन्थी भवति पण्डितः' । बौद्ध और जैन उपाश्रमों में ग्रन्थ संग्रह बने, परन्तु बख्तयार ख़िलजी ने ओदन्तपुरी विहार का सुन्दर ग्रन्थ संग्रह नष्ट कर डाला । जगद्दल विहार की भी यही दशा हुई । कई बौद्ध भिक्षु अपनी पोथियां लेकर नेपाल-तिब्बत भाग गये । वल्लालसेन के एक प्रचंड ग्रंथालय का उल्लेख मिलता है । आज उसका चिह्न मात्र भी अवशिष्ट नहीं । नेपाल में चौदह-पन्द्रह सौ वर्ष पुरानी पोथियां मिलती हैं । गुरखाओं ने नेपाल जीतने पर

नेवार राजाओं का ग्रंथालय लूटा। परन्तु अब जंगबहादुर के समय से पुनः ग्रन्थसंग्रह होने लगा। उनके राजकीय संग्रहालय में १६ हज़ार संस्कृत ग्रन्थ हैं जिनमें से दो हज़ार ताड़पत्र पर लिखे हैं। दस हज़ार भोट देश की और तीन-चार हज़ार चीन देश की पोथियाँ हैं। राजपूताना के प्रत्येक नरेश के किले में एक-एक 'पोथीखाना' रहता है। जैसलमेर में जैन पोथियों का बड़ा संग्रह था। तन्जावर के ग्रन्थालय में अठारह हज़ार पोथियां हैं। काशी के सर्व विद्यानिधान कवींद्राचार्य सरस्वती के ग्रन्थालय में तीन हज़ार चुनी हुई पोथियां हैं। वैसे हुमायूँ अपने ग्रन्थालय की सीढ़ियों से गिर कर ही मरा। अकबर ने सीकरी में अच्छा ग्रन्थसंग्रह किया था। पर अब उसका पता नहीं।

लन्दन की 'ब्रिटिश म्यूज़ीयम लाइब्रेरी' संसार का सबसे बड़ा ग्रन्थालय है। उस में पचास लाख ग्रन्थ केवल दुर्मिल और प्राचीन संदर्भग्रन्थ मात्र हैं। वे जिन अलमारियों में रखे गये हैं उनकी पंक्तियां अगर एक से दूसरी सटा कर रखी जावें तो उनकी लम्बाई पचपन मील होगी। किताबें लाने, इधर से उधर ले जाने के लिये 'लिफ़्ट' और ट्रालियां काम में लाई जाती हैं। गये सौ वर्षों में जो कुछ भी इंग्लैंड में छपा है वह यहां संग्रहीत है। गत महायुद्ध में इस ग्रन्थालय की रद्दी एकत्रित की गई—उसे १८ कागज़ के कारख़ानों में पहुँचाया गया, उसका बारूद वगैरह बनाने में उपयोग हुआ। १६ जनवरी १७५६ में स्थापित इस लाइब्रेरी में आज जो हस्त-लिखित ग्रन्थ हैं उनकी ही कीमत ८४,००,००० रुपये है। इस ग्रन्थालय का लाभ स्कॉट, कार्लाइल डिकन्स, ह्यूम, ब्राउनिंग, रस्किन, मैकाले आदि साहित्यक; डार्विन, डिज़रैली, मार्क्स आदि वैज्ञानिक तथा संशोधक उठा चुके हैं।

परन्तु इस सारी जानकारी के बाद भी किताबों के छपने, एकत्रित करने, पढ़ने की जो हालत हमारे आसपास , वह अभी बहुत दयनीय है। हम लोगोंमें अभी इतनी नागरिक-बुद्धि तक नहीं बढ़ी

कि ग्रन्थालय की पुस्तकों को कैसे काम में लावें । हमारे पाठक पब्लिक लाइब्रेरियों की पुस्तकों के पन्ने रङ्ग देते हैं, ख़राब कर देते हैं; कई विद्यार्थी तो ब्लेड चलाकर पन्ने ही उड़ा ले जाते है । इस 'मिस-हैंडलिंग' के मारे अब मैं उपहार रूप और आलोचनार्थ आने वाली पुस्तकें मित्रों को देता ही नहीं । और मेरा दुर्भाग्य यह है कि कई सज्जन मेरे मित्र केवल इस लिए बनते हैं कि मेरे पास अच्छी नयी किताबें उन्हें मिलती हैं । और कई उनमें से अपने मित्रत्व का सबूत कई किताबे चुरा कर, न लौटा कर, पचा कर, दे चुके हैं ! 'पुस्तकों की चोरी चोरी नहीं होती' यह अंगरेज़ी सुभाषित उनकी मदद करता दिखाई देता है !

इसलिए जब इन पुस्तकों का यह हश्र देखता हूँ कि कई तो रद्दी के बाज़ार में बेची जा रही हैं; कई दीमक और चूहे का आहार बन रही हैं; कई लेखक महोदय ने अपने खर्चे से छपाईं और उन्हीं के घर गट्ठर बँधी पड़ी हैं—मित्रों को 'स्नेह उपहार' बाँट रहे हैं; तब बड़ा वैराग्य मन में जागता है कि क्यों है मानव जन्तु की यह अहंता कि उसका नाम अमर रहे और जिल्द में बँध कर, उसके मर जाने के बाद भी वह और कई पीढ़ियों को तंग करता रहे ! शायद इसी से लेखक के उपनाम की प्रथा चली; पर फिर 'उपनाम' का उपयोग केवल नाम के प्रति और कौतूहल निर्माण करना मात्र बन गया । मैं इसीलिए अपने लिखने के बारे में बेहद लापरवाह हूँ । पन्द्रह बरसों से हिन्दी में लिख रहा हूँ । पता नहीं कितना लिखा । किताब के रूप में कुछ भी नहीं छपा, न उस ओर प्रयत्न ही किया । जो कुछ छपा भी, उसका संग्रह मुझ से नहीं हो पाता । एक बार लिख कर छपने भेज दिया कि वह फिर 'कृष्णार्पणमस्तु' हो गया—कई सम्पादक जनों की 'रद्दी की टोकरी' की शोभा वह बढ़ाता रहा हो; कई जगह लेख छप गया भी हो तो पता नहीं चलता । लिखने भर का मैं अधिकारी हूँ, फल की कांक्षा

मैं क्यों रखूँ ! (फल तो छापने वाले को ही मिलेगा। एक प्रकाशक ने झूठे ही मेरे नाम से, बिना मेरे देखे-जाने, एक अंग्रेज़ी पुस्तक के नोट्स छाप डाले, सब मुनाफा भी डकार गया। मैं पत्र पर पत्र भेज कर देखता ही रह गया !) सो छपने के पहले तक मैं अपनी सृष्टि से प्रेम करता हूँ—छपने भेज देने पर या छप जाने के बाद वह मेरी नहीं रहती। सब को हो जाती है। फिर उसका क्या मोह, और क्या संग्रह !

इस लिए जब व्यंग से मेरे मित्रगण पूछते हैं—तुम्हारी किताब कब छप रही है ! तब मैं हँस कर कहता हूँ—मेरे मरने के बाद, तुम जैसे मित्रों को कुछ उद्योग तो चाहिए। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के गए पन्द्रह वर्षों की फाइलें टटोल कर, चाहो तो संग्रह छाप लेना। अभी तो कुछ मुझे स्थायी नहीं जान पड़ता। क्षण भर, आनन्द देने दिलाने का यह व्यवसाय तब तक क्यों छोड़ूँ ?

[परन्तु फिर कह दूँ—यह सब लेख छपने से पहले तक ही मन में रहता है। छप जाने के बाद—निज कवित्त केहि लाग न नीका। अपना छपा हुआ नाम, लेख, ग्रन्थ और फ़ोटो किस मनुष्य को सुन्दर और प्रिय नहीं लगता ? छपने के बाद छिपने का कोई स्थान नहीं। मन का चोर तो वहीं पकड़ लिया जायगा !]
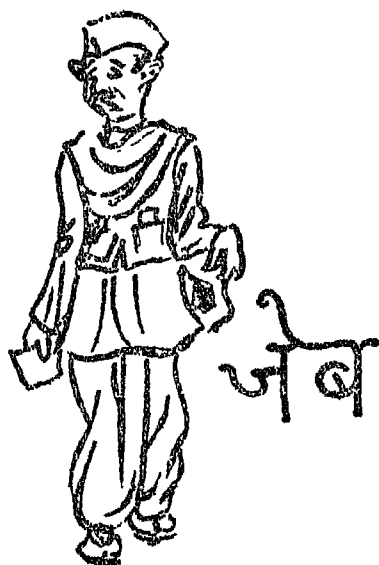
जेब खाली थी मगर दिल था भरा।
दिल हुआ खाली, भरी है जब से जेब

जेब और दिल का बड़ा निकट सम्बन्ध है। हृदय के ठीक ऊपर पैसा रखने का पाकिट इसीलिए निर्माण किया गया है। जितना हृदय ख़ाली जेब के नीचे साफ पाया, उतना ही भरी हुई जेबों के नीचे मैला। बात यह है कि आदमी एक वक्त एक चीज़ भर ले, या तो जेब या दिल ?

परसों एक कवि मिले। बहुत दुखी थे। मैं समझा कि इस 'प्रेमी' जीव का दिल कोई चुरा ले गया होगा, या दिल इसका टूट गया होगा

इसलिये आँखों में यह आँसू ला रहा है। परन्तु बात यह थी कि उस की लापरवाही से किसी ने उसकी जेब काट ली थी, बहुत सफ़ाई से, और उसके कुछ चैक और सिनेमा-गीतों के कांट्रैक्ट आदि ग़ायब थे! इसीलिए कविजनों को चाहिए कि वे जेब अपने कपड़ों में न रखा करें। क्योंकि अन्यमनस्क वे सदा ही रहा करते हैं और 'पाकिटमारों से सावधान!' यह पटिया स्टेशन पर पढ़ते समय संभव है कि कोई 'किस्मत' (फ़िल्म) का मारा वहाँ आ गुज़रे और फिर दिल तो वह पहले से खो बैठा ही है, दिल को ढाँकनेवाले जेब के नोट भी खो बैठे!

एक बार अंग्रेज़ी के हास्य-लेखक ई०वी०ल्यूकस एक 'ज़ू' देखने गये। चिड़याघर के भयानक बाघ-सिंह देख कर वे दुख प्रदर्शित ही कर रहे थे कि सभ्यता ने इतना विकास कर लिया, परन्तु इन वन्य और हिंस्र पशुओं को देखिए —उनमें कोई परिवर्तन नहीं? मनुष्य कितना अधिक सभ्य और संस्कृत है! कि बाहर आते ही उनकी जेब किसी भलेमानुस ने उड़ा दी। इस पर वे लिखते हैं कि ये बाघ, सिंह आदमियों से कहीं बेहतर हैं। उनमें एक बड़ा गुण है, वे पाकिट मारी नहीं कर सकते!

गिरहकट, जेबकतरे, गठकतरे या कि पाकिट-मार जाति के प्राणी शायद बढ़ते जा रहे हैं; क्योंकि वैसे तो माँगने के अनेकानेक आध्यात्मिक-धार्मिक-शारणार्थिक-राष्ट्रीय-और-चान्दिक ('चन्दे' से बनाया शब्द) मार्ग इस पावन देश में हैं ही, उनमें 'बिनमांगे पाकिट मिले; मांगे मिले न नोट!' वाला यह नया मार्ग चल पड़ा है और कुछ स्थानों में इनकी बाक़ायदा ट्रेनिंग दी जाती है और साहित्य के क्षेत्र में एक पत्रिका से कोई लेख उठा लेना, उसे पूरा या उसके अंश ज्यों-के-त्यों छाप देना —उसके पीछे कहां से लिया या किसने लिखा यह नाम न देना; किसी से अपनी पत्रिका के, विक्रम अभिनन्दन-ग्रंथ के चित्र बनवा लेना, अनुवाद करा लेना और फिर उसका नामोल्लेख तक न करना

कृतज्ञता-प्रकाश तक न करना, यह सब साहित्यक जेबकतरापन नहीं तो और क्या है ! कई लेखक-पुंगव तो इसी कैंची के बल पर अपने साहित्यक 'सलून' चलाया करते हैं !

आखिर आदमी को अपने कपड़े में जेब बनाने की इच्छा क्यों और कब से हुई ? संस्कृत में 'जेब' के लिये शब्द नहीं। संस्कृत काल में लोग सिले हुए कपड़े ही नहीं पहनते थे—सब गद्दाम के स्वीकर साम्यमूर्ति या शंकरराव देव की भांति अक्सर रहा करते थे। फिर पता नहीं किस संशोधक ने वस्त्र में यह पैवन्द जोड़ दिया। अब तो वस्त्र में इतने जेब पता नहीं क्यों सी दिये जाते हैं ? कई तो निरे फैशन के होते हैं। कई जेबों में से रूमाल झांकते रहते हैं और कई में नकली फाउंटेनपेन के क्लिप ही लगे रहते हैं और कई सिर्फ इसलिये होते हैं कि उनमें हाथ पड़ा रह सके। वैसे जेब घड़ी के कुछ जेब होते हैं—फौजी पोशाक में पता नहीं नितम्ब भाग पर छोटी जेबें क्यों रक्खी जाती हैं ? और कुछ टोपियों के बाहर जेब होते हैं—वह किसलिए यह अभी तक मेरी समझ में नहीं आ पाया है ! सम्भव है वे जेब सिर्फ 'ज़ेब-वो-ज़ीनत' (शोभा और सौंदर्य) के लिए ही हैं !

जेब बनाने की इच्छा मानवप्राणी की संग्रह-वृत्ति से संबंधित है। प्रत्येक पशु में—और मानव एक ज़रा सा सुधरा हुआ पशु ही तो है—यह संग्रह-वृत्ति प्रबल मात्रा में विद्यमान है। कुत्ता सूखी हड्डियां जमाकर एक स्थान पर ज़मीन में गाड़ देता है। हड्डियां भी गुप्त रखने के लिये वह भिन्न भिन्न स्थानों में दफना कर रखता है। उसी प्रकार जैसे आदमी अपना पैसा अलग-अलग बैंकों में या अलग अलग व्यापारों में अटकाता है। बाघ और शेर भी जब अपना भक्ष्य पकड़ते हैं तो पहले अपनी गुफा में या सदा के सुरक्षित स्थान पर ले जाते हैं और जितनी इच्छा होती है उतना खा कर, बाकी बचा रखते हैं।

और उन स्थानों पर पहरा देते हैं। शीतकटिबन्ध में इस प्रकार की संग्रह-वृत्ति पशुओं में अधिक पाई जाती है। लोमड़ी इसी प्रकार अपना संग्रह कर रखती है। भेड़िये भी अपने आगे के समय के लिये खाद्यका बीमा कर रखते हैं। और जब वे रोम्युलस-रेमस जैसे मानव-शिशु अपना दूध पिलाकर पालते हैं, तो पता नहीं उनका हेतु क्या होता है? इन दूरदर्शी प्राणियों से उल्टे भी कई जानवर पाये जाते हैं जैसे उत्तरी ध्रुव-प्रदेश के कई बड़े-बड़े मत्स्य और अजगर—जो दीर्घ-काल तक सोते ही रहते हैं।

कुछ पशुओं को प्रकृति ने उनकी शरीर-रचना में ही जेब दे दिये हैं—जिससे वे अपने मुँह में मछलियों को पकड़ कर उनका संग्रह कर रखते हैं—पेलिकन पक्षी के गले से ऐसी जेबें प्रकृति ने सी दी हैं। कुछ पशु अपने मुँह में अन्न-संग्रह कर जुगाली के द्वारा उसकी चर्वित-चर्वण कर सकते हैं। रस-शास्त्रियों को इस चर्वणा में कोई प्रत्यभिज्ञा शायद मिल जाय, या लॅसेलस एबरक्रॉबी जैसे साहित्यालोचकों ने जिसे कहा है वह 'सार्थक अनुभूति का पुनः-प्रत्यय' प्राप्त हो जाय। परन्तु इस जुगाली-क्रिया में सबसे तेज हैं उष्ट्र राज। उसके पेट में कई जेब रहते हैं, जिनमें वह आठ आठ दिन का पानी भर लेता है। कहते हैं कि ऊँट की पीठ पर जो कूबड़ होता है, वह निरी चर्बी का बना होता है और अन्न की कमी के दिनों में उसका उपयोग भी वह कर सकता है। चींटी बहुत बड़ी संग्रहशीला है। मकड़ी और मधुमक्खी में भी यह वृत्ति पर्याप्त परिमाण में पाई जाती है। गरुड़, बाज़, मैना भी संग्रहप्रिय पक्षी हैं। कुछ भारतीय पक्षी पर्वतों में इतना बड़ा नाज का संग्रह कर रखते हैं कि दो चार बोरी भर धान्य वहां मिल सके। इतनी सब पशुओं की संग्रहवृत्ति देखने पर भी कुछ आदमी हैं कि पशुओं से भी गये-गुजरे होते हैं। वे संग्रह करते ही नहीं। और फिर भीख मांगते फिरते हैं।

जेब से हम संग्रह और असंग्रह की बात पर चले गये। असल में संग्रह भी किस-किस चीज का किया जाय ? और कहां तक किया जाय। पुराने सिक्के, डाक के टिकट, पुरानी घड़ियां, खिलौने, शास्त्रास्त्र, सांप, रंग रंग के पंख, तितलियां, चित्रोंवाले पत्थर, हस्ताक्षर के नमूने, पुरानी हस्त लिखित ताड़पत्र पर लिखी किताबें और ऐसी कई अजीबो-गरीब चीज़ों के संग्रह करनेवाले लोग होते हैं। एक आदमी ने देश-देश के जूते और देश-देश की टोपियों का ही संग्रह कर रखा है। तो एक भले मनुष्य को अलग-अलग प्रकार के दीपक एकत्र करने का शौक़ है। यह संग्रहवृत्ति कई बार आदत हो जाती है; और बचपन से पड़ी हुई यह चोरी की लत कि जिस किसी की चीज़ अच्छी देखी, उठाई, जेब में रख ली—यहाँ तक बढ़ जाती है कि इंगलैंड के एक प्रधान-सचिव की पत्नी रोज़ उनके ओवरकोट की जेब से निकली सब चीज़ें जहाँ-जहाँ वे दिन भर जाते थे उन स्थानों में एक बार घुमा देती थी, ताकि लोग अपनी-अपनी चीज़ें वापिस ले लें।

एक और चीज़ जो जेब से याद आ जाती है—वह है जेब-ख़र्च। इस रक़म का कोई हिसाब नहीं पूछा जाता। बड़े-बड़े रजवाड़ों के राजा-महाराजाओं से लगा कर नौकर-चाकरों तक को यह रक़म दी जाती है। इसमें कुछ भी ख़र्च आ सकता है। 'जेब गरम करना' यह मुहावरा भी आपने सुना होगा—हैं जानिब व्यापार कभी करते नहीं—सो जेब मोटी होने की या बनाने की कोई गुंजाइश नहीं

अन्त में एक मज़ेदार बात बता दूं, एक लेखक ने अपनी दरिद्रता और अनुभव की विशालता बतलाते हुए लिखा—पाकेटहीन अवस्था में मैं घूमता रहा—कई प्रांतों में और जो-जो अनुभव मिले उन्हें अपनी पाकिट-बुक में दर्ज करता रहा! यह पाकिट-बुक ये हज़रत रखते कहां थे? यह रिसर्च-स्कालरों का विषय है—सो यहीं छोड़ दूँ।

— -- -
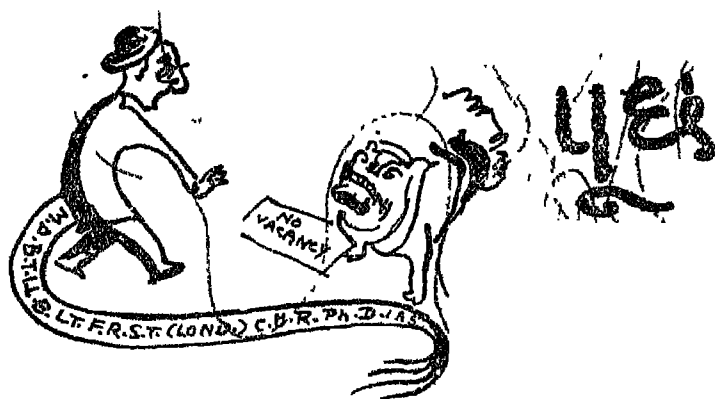
कपि के ममता पूंछ पर सबहि कहउ समुझाय।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ ॥
पूंछहीन बानर तहँ जाइहि..............

तुलसी रामायण (सुन्दर कांड)

बन्दर का प्रेम उसकी पूंछ से होता है। वाह, तुलसी बाबा, बहुत बड़ा सच कह गए । आप शायद नहीं जानते कि आप के बाद एक महाशय डारविन भी हो गए, जिन का यह विश्वास है कि आदमी बन्दर से बना। तो बन्दर का गुण—यानी पूंछ से प्रेम आदमी में भी बाकी है। आप पूछेंगे, आदमी के कहाँ दुम होती है ! इसी लिए तो मैंने दुम नहीं पूंछ कहा। आजकल जहां देखिए वहाँ उसी आदमी की पूछ होती है, जिसकी बड़ी लम्बी पूंछ हो । कभी वह आदमी बड़ा माना जाता था जिसकी लम्बी मूंछ हो, अब वह आदमी बड़ा है जिसकी बड़ी पूंछ हो।

पूंछ के दोनों मतलब सार्थक हैं; डिग्री आदि आदमी के नाम की पूंछ मानी जाती हैं। और वैसे बड़े लोगों से जान-पहचान, कन्धे से कन्धे रगड़ना यह पूंछ का एक तरीक़ा है। पहिले डिग्री की बात करें। कम पढ़े-लिखे लोग इसके बहुत पीछे लगे रहते हैं। यदि डिग्री नहीं है, तो नक़ली डिग्री लगाते हैं। कई कम्पिनियाँ खुल गई हैं जो रुपया लेकर कहीं साहित्याचार्य, कहीं ज्योतिषाचार्य, कहीं आयुर्वेदाचार्य, ऐसी पदवियाँ बांटती हैं। एक साहब के कोई डिग्री नहीं थी, तो लगा ली एफ़. आई. आई. सी. एस. (मतलब फ़ेल्ड इन आई. सी. एस.)। दूसरे एक साहब को डिग्री का इतना शौक था कि उन्होंने अपने नाम के आद्याक्षर (इनिशियल) पीछे लिखने शुरू किए, जैसे नाम उनका था मोहन आनन्द शर्मा, सो हज़रत अपने हस्ताक्षर शर्मा-एम् ए किया करते थे। हमारी एक मित्र के पति तो इस डिग्री के गर्व में ही पागल हो गए—पूंछ के ये प्रताप हैं !-सैयद अमीर अली 'मीर' फ़रमा गये हैं :—

चतुर गवैया होय वेद को पढ़ैया चाहे,
समर लड़ैया होय रणभूमि चौड़ी में।
जानत सवैया होय 'मीर' कवि त्यों ही चाहे,
बात को जनैया होय नैन की कनौड़ी में॥
नीति में चलैया होय पर-उपकार आदि,
कुशल करैया काज हाथ की हथौड़ी में॥
गुनन को शीला होय तोइ न वसीला बिन,
कोई है पुछैया भैया नाहीं तीन कौड़ी में॥

मगर कभी-कभी यह पूंछ बहुत ज़रूरी हो जाती है—जब साहित्य में दो 'भास्कर' या तीन 'सुमन' या चार 'प्रभाकर' उप-नामधारी लेखक हो जाते हैं तो फिर एक को दूसरे से अलग बताने के लिए यह डिग्री वही काम करती है जो काम कि शब्द 'पंचम' और 'षष्ट' जार्ज के साथ लग कर निकालते हैं। अब यह डिग्री या पूंछ सिर्फ़ युनिवर्सिटी की तालीम वाली

आप की ही नहीं होती — एक लेखक मित्र के कोई डिग्री नहीं है, तो वे अपने उपन्यास कहानियों में साक्रोश प्रतिपादित करते हैं कि डिग्रीधारी सब जो होते हैं, वे अव्वल नम्बर के खराब आदमी होते हैं। मगर कई बार उपनाम या तख़ल्लुस पूंछ हो जाता है। जैसे किसी आगरे वाले की मिठाई की दुकान मशहूर हो गई तो, सभी आगरे वाले बनने लगते हैं। साहित्य में भी यह बीमारी चलती है। तुलसीदास के बाद कई कवियों ने अपना नाम तुलसी रख लिया था। कभी उग्र, निराला, नवीन, मतवाला, मुक्त, उन्मत्त, मस्त, ऐसे उपनाम रखने का रिवाज चला था। फिर कुछ दिन, इन्द्र नाम से अंत होनेवाले नामों का चलन चल पड़ा—जैनेन्द्र, वीरेन्द्र, नरेन्द्र, नगेन्द्र, जितेन्द्र, सत्येन्द्र, महेन्द्र, मत्स्येन्द्र, अमरेन्द्र आदि आदि। आजकल कुछ अजीब, अटपटे, समझ में जल्दी न आनेवाले तख़ल्लुसों का फैशन चल पड़ा, जैसे अज्ञेय, दुर्ज्ञेय, कात्यायन, दिङ्नाग, नागार्जुन, बरुआ, त्रिविश, जामदग्न्य आदि। ये सब नाम तो हिन्दी में चल ही रहे हैं। किसी को अपना विचित्रतर नाम रखना हो तो मेरे पास पूरी सूची है। कुछ नमूने देखिए: बिहारियों और मद-रासियों के नाम मालगाड़ी की तरह लम्बे होते हैं—राजा राधिकारमण प्रसादसिंह, अयगाप्पा तिप्पणा घंटी और कोण्डावेंकटप्पया आदमियों के नाम हैं, सचमुच के आदमियों के, 'भारतीय आदमियों' के! पहाड़-पौधे-पशुओं के नाम तो और भी मज़ेदार होते हैं—वाकारे वारेवा, चिंबोराज़ो, माटा-माटा, पोपोकैटापुटल, सोनिया डिजिटाटा, औरङ्गउटाँग......

बात पूंछ की चल रही थी और गाड़ी नामों पर लुढ़क गई। खैर, जिसकी पूंछ नहीं उसका कोई विकास नहीं, भविष्य नहीं। अगर आपकी पूंछ है तो सब कुछ है। पूंछ होने पर आप गाना कैसा भी गाते हों, चाहे आप का गाना ऐसा हो जैसे मिल के भोंपू को जुकाम हो गया और वह मारे जाड़े के दांत किटकिटा रहा है, फिर भी आप महान् प्राच्य

संगीतविशारदाचार्य बन जायेंगे। और वैसे आपने चाहे पच्चीस बरस रियाज़ किया हो, अगर पूंछ नहीं है तो आपको 'पूंछता' कौन है ? पूंछ हो तो आपकी तीन-चार टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें भी 'माडर्न आर्ट', के नाम से म्यूज़ियमों में टंग जावेंगी और कला-समीक्षक उस पर अपना सिर खपायेंगे मगर पूंछ नहीं है तो इस बात से क्या मतलब है कि आपने सारे भारत का भ्रमण किया है और पचासों दृश्य जल-रंग में आपने बनाये हैं, या सात मूर्ति-कला संग्रहों से आपने कई सुन्दर रेखा-चित्र बनाये हैं। आज की दुनियां में सिर्फ पूंछ पुजती है। यह पूंछ पुच्छ- कंटक (संस्कृत में बिच्छू के लिए यही नाम है) की तरह डंक मारती है।

आपकी 'पूंछ' क्योंकर होती है, इसका पता बड़े बड़े वैज्ञानिकों तक को नहीं चलता। आपकी पूंछ इसलिए भी हो सकती है कि आपके बाल सुनहले हैं,रंग गोराचिट्ठा है और बोलने में आप तेज़ हैं। आप की पूंछ इसलिए भी हो सकती है कि आप अमुक जाति के अमुक अमुक उपयोगी मनुष्य हैं। हाल में पंच में एक कार्टून देखा कि दो आदमी दफ़्तर से बाहर जा रहे हैं, एक दूसरे से पूछता हुआ दिखाई देता है कि आपको यह नौकरी कैसे मिल गयी। वह जवाब देता है—मेरे चाचा ने मुझे इस खास काम की नौकरी दी है कि कहाँ-कहाँ रिश्तेदारों को विशेष महत्व (नेपोटिज्म) दिया जा रहा है यह खोज की जाये ! इस प्रकार इस पूंछ-शास्त्र का कोई अन्त नहीं।

इन दो पूंछों से—डिग्री और पहिचान से—अधिक आनन्द देने वाली चीज़ आदमी की पूंछ नहीं, जानवरों की पूंछ है। पहिले तो यह बताइए कि कोई जानवर है, जिसे पूंछ नहीं होती ? वैसे अफलातून ने आदमी की परिभाषा पंख-हीन पूंछ-हीन द्विपाद की थी। कभी बिल्ली को गुर्राते हुए पूंछ उठाते देखा है ? क्या बढ़िया गोल शक्ल उसकी होती है, जैसे किसी सुन्दर नर्तकी की बाहें हों और कुत्ते का

पूँछ

लांगूल-चालन (पूंछ हिलाना) तो चापलूसी के तरीके में शुमार हो गया है। मगर की कंटीली पूंछ रज़ाकारों के हथियारों की तरह काम आती है और गिलहरी की, लोमड़ी की, दुम्बे की गुच्छेदार पूंछ क्या अच्छी जान पड़ती है! सबसे सुन्दर है मोर की पूंछ। कालिदास ने 'मेघदूत' में उसकी उपमा वेणी से दी है। और सबसे हास्यास्पद है हाथी की पूंछ। अंग्रेजी का विनोदी कवि हिलेयर बेलौक कहता है :—

When people call this beast to mind
They marvel more and more
At such a LITTLE tail behind,
So LARGE a trunk before.

---

* कल्पना कर इस पशु की लांग, यही विस्मय करते हैं घोर।
कहां छोटी सी इतनी पूंछ, कहाँ वह बड़ी सूँड उस ओर॥

बातें मुंह से निकलती हैं। इसी से मुंह की बात कह रहा हूँ। चाहे इसमें मुंह की खानी पड़े—अथवा चार लोग कहें कि, 'अजी कुछ नहीं मुंहदेखे की बात है।' असल में जितने मुंह, उतनी बातें। कहा गया है कि 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्',* और संयोगवश हम भी जन्म से भगवान के मुख में से निकले। पता नहीं लार के रूप में या खखार के। किसी मीठी चीज़ को देखकर भगवान के मुंह में पानी भर आया होगा और तभी से मिष्टान्न ब्राह्मणों को बहुत भाने लगे।

मुंह कई क़िस्म के होते हैं। कई मुंह कुछ विधना की भट्ठी में से अधपके, ज़्यादह पके या ऐसे-वैसे ही निकल आते हैं। मनचले उन्हें देखकर मुंह बनाते हैं। पर जो भाई मनचले नहीं, वे भी इन्हें देखकर मुंह लटकाये नहीं रह सकते। देखिए यह आलू जैसे मुंह वाले लाला

*ब्राह्मण मुख से पैदा हुए।

जी हाथ पर मुट्ठी पटक कर क्या आँखें गोल कर रहे हैं। हो सकता है कोई देशभक्त हों, जो इन इलक्शनों में (जो विलक्षण हैं!) मुंह के बल गिरे हों। और यह लम्बी नाक वाले, नुकीले, बेहद रूखे बाल लखेरे, शायद हमारे दोस्त कोई कामरेड हैं। इनके मुंह न लगना, मुंह की खानी पड़ेगी। अब आगे आ रहे हैं ये हज़रत शायद हब्शी सौन्दर्य के आदर्श सुमुख हैं। मिलिटरी में भी हो सकते हैं, बड़े से ओहदे पर के मामूली अफसर भी, चेहरा इनका निर्विकार है। कहीं कुछ भी हो जाय—नाक इनकी फैली रहेगी, होंठ भी अपनी मुटाई में कम न होंगे!

अब आप कहेंगे कि मुंह की इतनी बात मैं करता हूँ तो क्या कोई मुद्रा-सामुद्रिक (फेस रीडिंग) जानने वाला हूँ, या क्या बात है? आप से सच कहूँ, ये ज्योतिष और हाथ देखना और मुंह देखना, ये सब टोटके हैं, ढकोसले हैं। वे इन अफ़वाह-बाज़ियों पर भरोसा लायें जिनके मुँह से अभी दूध टपक रहा हो, या जिन्हें रेस या लाटरी का नम्बर ठीक न आने पर मुंह बाये रह जाना पड़ता हो। "क्वचिन्दन्तुर्भवेन्मूर्खः*" आदि बड़े ही मूर्खता-पूर्ण वचन हैं—मेरे कई पहिचान के लोग हैं जिनके मुंह पर दांत यों निकले हुए हैं जैसे हमेशा हँसते हों, ऐसा भाव उनके मुंह पर छापा या 'सील' किया हुआ हो, फिर भी कुछ नहीं—अक़्ल उनकी ज़रा भी मुंह पसारती-सी नहीं। उलटे कई पोपले मुँह वाले दानिशमंद भी हो गये, मसलन वॉल्टेयर।

आप कहेंगे क्यों जी, पुल्लिंगी मुँह की ही चर्चा अधिक हो रही है। नारी तो वैसी ही सुमुखि कहलाती है—उसकी मुंहमाँगी तारीफ कवियों ने यहाँ तक कर डाली है कि

> देख कर उनको जो आ जाती है रौनक मुंह पर,
> वे समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है।

---

* बड़े दाँत वाला शायद ही मूर्ख होता है।

लेकिन यह कहना भी एक बीमारी है। जो बेमुंह के होते हैं, ऐसा कहते रहते हैं। स्त्रियों के मुंह में वैसे ही लगाम नहीं होती। उनके मुंह के रंग यों बदलते रहते हैं जैसे इन्द्र-धनुष के। उनके मुंह को इस विज्ञान के युग में भी कवि लोग चन्द्रमुखी कहते हैं, यह जानकर भी कि चन्द्र के समीप जाने का मतलब बर्फ़ से ठंडे हो जाना है। कुछ लोग होते हैं जो स्त्री-मुख देखते ही या तो मुंह ताकते रहते हैं, या मुंह लटका लेते हैं, या मुंह फुला लेते हैं। मुंह-दिखाई वधुओं का खास अधिकार है। पर यह बात मैं मुंह पर क्यों लाऊँ कि स्त्रियाँ ही हैं जिनकी मुंहथुराई मुँह से ही होती है। मैं पंत की पंक्ति नहीं कह रहा हूँ कि 'अधर से अधर गात से गात।' मैं ऐसे भी क़ैसमिज़ाज *प्रेमी जानता हूँ जो इन मुंहों के पीछे मुंह के बल गिरे हैं, जिन्हें इन कलमुंहियों के पीछे अब मुंह छिपाना पड़ रहा है, और शापनहार की तरह ज़िन्दगी-भर के लिए औरत ज़ात से मुंह फुलाकर बैठे हैं। कुछ हैं जो औरत को मुंहनाल समझते हैं; कुछ मुंहामुंह भरा जाम—चाहे अमृत का, चाहे हलाहल का, चाहे मधुशाला वाले सोमरस का।

सो मैं अपने स्केचबुक से एक दो मुंह दूसरी तरह के भी देता हूँ। यह हैं कोई कुमारी हरिश्चन्द्री। शायद सिनेमा स्टार हैं। इनके मुंह की सेवा में—भौंहें उखाड़ कर नकली रंगने वाले औज़ार, पलकों की बिरौनियाँ लम्बी करने वाले कुछ हथियार, बालों में लहरियां पैदा करने वाले अस्त्र, और होठों को सदा सुर्ख 'लाल' बनाये रखने वाले 'अधर-दंड, (लिपस्टिक का हमारे संस्कृतनिष्ठ हिन्दी मित्र द्वारा किया हुआ शब्दशः अनुवाद) मुख-चूर्ण और अंगराग और कर्णफूल और क्या-क्या नहीं—चिर-प्रस्तुत रहता है। यह मुख छः छः फ़ीट लम्बा बनकर रूपहले पर्दे पर जब थिरकता है, तब बड़े-बड़े शुक्राचार्यों की मुंहाचारी झूठ निकलती है और रवीन्द्रनाथ को 'उर्वशी' में वर्णित

---

* प्रसिद्ध प्रेमी मजनूँ का नाम क़ैस भी था *

गुनियों जैसी दशा हो जाती है। कइयों के मुंह के कोवे उड़ जाते हैं, कइयों के मुंह कलियों से खिल जाते हैं। आखिर मुंह ही तो ठहरे? जब तक बोलते नहीं, तब तक मुंह के हिसाब से तो सब एक से हैं। "काकः काकः पिकः पिकः" तो मुंह खुलने पर ही पता लगता है। कई नारियों के ऐसे मुख इतिहासों में कहे गये हैं कि जिन्होंने वीरवरों नायकों के जीवन का मुख ही बदल दिया (क्लिओपाट्रा, पद्मिनी और रत्नावली)।

मुख को इन भंगपिये कवियों ने पता नहीं क्यों कमल भी कहा है। और फिर सोचने बैठे हैं कि एक ही कमल पर दो-दो भौंरे (आंखें) क्यों? कमलगट्टे (जिसके "मखाने" बनते हैं) तो मैंने भी खाये हैं। पर मुखकमलों की अपेक्षा मेरा मुँह कमला (लक्ष्मी) के मुखके—विशेषतया सिक्के और नोटों के (हज़ार के नहीं) इधर छपे मुखौटे के—दर्शन से ही अधिक खिला है। उसी ने मुंह रखा है।

मेरी स्केच-बुक की यह यह दो वेणीवाली सामान्यमुखी है, उससे तो मुझे कमल की अपेक्षा मुखास्त्र (संस्कृत में केंकड़े के लिए शब्द) को अधिक समानता दीखी है। और इस मुखर, मुखचपल, लड़केनुमा लड़की में मैंने मुखप्रिय (संस्कृत शब्द संतरे के लिये) की अपेक्षा मुखदूषण (संस्कृत में प्याज़) का अधिक स्वाद पाया है। स्वाद शब्द से आप ग़लतफ़हमी में न पड़ जायें। वैसे साहित्य में एक इन्द्रिय की उपमा दूसरी इन्द्रिय की अनुभूति से वर्णित होती है—विशेषण-विपर्यय या Mixed Metaphor ऐसा ही कुछ उसे कहते हैं। इस प्याज़-मुखी देवी से कभी-कभी लू से किसी का रक्षण हो जाता होगा—यह कल्पना सुखद है। (क्या कहना होगा कि ये सब चेहरे मैंने कल्पना से बनाये हैं। कोई अपनी सूरत उसमें न देख ले।) लेख का 'आमुख' ही इतना लम्बा हो गया है कि अन्य चित्र देने की हिम्मत नहीं होती। एक मुंह की बात मैंने ऊपर बहुत की। परन्तु हमारी पौराणिक गपोड़पंथी प्रतिभा बहुमुखी

है। सिर्फ़ मुखशेष राहु है तो मुखहीनता से विशिष्ट (conspicous by the absence of मुख) केतु है। दो मुंह वाला द्विजिह्व साँप तो सुना है, कोई देवता नहीं। त्रिमुख अत्रि हैं, दत्तात्रेय—एलोरा के कैलास की त्रिमूर्ति। चित्तौड़गढ़ के समिद्धेश्वर की त्रिमूर्ति में एक ओर का मुंह हंस रहा है, दूसरी ओर का रो रहा है; बीच वाला न-हंस-न-रो, निर्विकार है। चार मुंह वाले ब्रह्मा, पंचमुखी परमेश्वर, षड़ानन कार्तिकेय और दशानन रावण भी हैं। गधे का मुंह पहने 'बाटम' (शेक्सपीयर के विदूषक पात्र)' की भांति नारद का भी मुंह एक बार बन्दर का हो गया था। हाथी के मुंहवाले गणेश जी महाराज तो वक्र-मुख के लिये प्रसिद्ध ही हैं। अब यह तालिका बढ़ती चली तो गोमुखी के दाने कभी पूरे न होंगे।

मुंह के साथ मू-शिगाफ़ी (बाल की खाल निकालना) बहुत हो गई। अब मैं आपके मुंह से यह सुनना चाहता हूँ कि इसने लेख क्यों लिखा है—छोटे मुंह बड़ी बात कही है; परन्तु बड़ी से बड़ी बात भी जनतारूपी ऊँट के मुंह में ज़ीरे के समान है। मुंह दर मुंह का मामला है, मुंहज़ोरी क्यों करूँ। मुहावरे का मज़ा मुझे मालूम नहीं। होली के दिन वैसे ही मुंह पर अबीर-गुलाल मली जाती है। सोचा चलो मुंह की ही कुछ कह दूँ—उसी तरह कि जैसे जो कुछ भी मुंह पर आ जाय। अगर आप इसे पढ़ कर मुंह बिगाड़ें तो मुंह बिचका कर मुंह न बनाइये, अक्ल की बन्दूक़ की मुहरी तान कर, गोली दाग दीजिये—कि लेख यह हास्यरस का है। इसमें *नारसिसस की तरह अपना ही मुंह न देखते रहिये। चेहरे को मन की अनुक्रमणिका (index) कहा गया है, परन्तु इसका मूल्य निरा मुंहदेखे का है। यह कोरी 'फ़ेस-वैल्यू' है। अब मैं इसलिये अपना मुंह बन्द कर लेता हूँ कि कहीं आप यह न कहें कि यह लिखने वाला बहुत मुंह चलाता है। 'बतरस लालच' अब बहुत हुआ। मुंह पर वैसे ही ताले पड़े हैं, कुंजी कहाँ है?

---

*एक यूनानी देवता जो अपनी सूरत पर मुग्ध हो गया था।

'हे ईश्वर ! जग है नश्वर, फिर भी शाश्वत है रिश्वत...'

एक तरुण कवि ने अपनी (काल्पनिक) प्रेयसी के प्रति कहा—'प्रेयसी ! यदि तुम आओ तो निज हृदय बिछा दूंगा मैं !' कवि का अपने हृदय का इस प्रकार कार्पेट बना देना एक प्रकार से घूसखोरी ही हुई। क्या प्रेयसी उस बिछावन के बिना उसके जीवन झोंपड़े में प्रवेश ही नहीं कर सकती थी ? और मान लीजिये प्रेयसी के चरण-कमल सैंडलान्वित हों तो फिर इस हृदयरूपी कार्पेट की नरमी या खुरदुरेपन का उन्हें एहसास ही नहीं होगा। परन्तु साहित्य में सब जगह यह सूक्ष्म प्रकार की घूसखोरी चला करती है। जैसे बच्चे से काम लेना हो तो उसे चाकलेट का लालच दिखलाया जाता है, उपन्यास-कार या कहानीकार अपने पाठक के दिमाग में कुछ और विचार ठोकना चाहता है, फ़िट करना चाहता है—और आश्रय लेता है कथा

का। हम साहित्यिकों और लेखकों के अपने पाठक से सम्बन्ध इस प्रकार से घूस देनेवाले और घूस लेनेवाले के होते हैं। घूसखोरी आज के युग का महान आदर्श है।

आप सवेरे से शाम तक दैनिक जीवन में यही किया करते हैं। आते ही आप के बच्चे रोना शुरू करते हैं और उनसे (और अप्रत्यक्ष रूप से उनके लिये ज़िम्मेदार आप से) हैरान श्रीमतीजी झल्लाती हैं तब आप बच्चों को इकन्नी देकर जलेबी, बर्फी या ऐसी ही कुछ चीज लेने भेज देते हैं। श्रीमतीजी को शाब्दिक घूस देते हैं कि हां, अबकी छुट्टी में मैं तुम्हें जरूर मायके पहुंचा दूंगा। कि इतने में आपके दोस्त आ धमकते हैं। वे शहर भर का 'स्कैंडल' आप को सुनायें इससे पहिले वे आपसे ज़्यादह बड़बड़ न करें इसलिये आप उन्हें घूस के रूप में 'सिगरेट' ऑफ़र करते हैं। और दफ़्तर जाने में 'लेट' होने पर जल्दी आफ़िस से लौटने के लिये अफ़सर जब क्रुद्ध हो रहा हो तब दुम दबाये आप सामने खड़े हैं और धीमे से विषय छेड़ देते हैं। (जिस क़िस्म का अफसर हो और उसकी अभिरुचि हो)—'वह मर्सिराइज़्ड कपड़ा खास तौर से आपके लिये मैंने इतने गज़ रखवा लिया है। दाम का क्या, आते रहेंगे; भला आप भी क्या कहेंगे?' या 'क्रॉसवर्ड का वह उन्नीस डाउन का 'क्ल्यू' है, उसमें N के बजाये L ही अधिक उपयुक्त है'; या 'आप के हाथ की बीमारी के लिये मालिश सबसे ठीक होगी'; या 'मैंने नेहरू की नई किताब ख़रीद ली है कल आपको पढ़ने ला दूंगा'; या फिर एक दूसरा मोर्चा—'कल वह फलां फलाँ साहब के (साहब के शत्रु या प्रतिस्पर्द्धी) आपके बारे में यह कह रहे थे कि...' और साहब झट से अपना गुस्सा भूलकर आप से कहेगा —'हाँ,हाँ, मिस्टर श्रीवास्तव या सकसेना या भटनागर, (जो भी आप का नाम हो), कुर्सी ले लीजिये बैठिये—क्या बता रहे थे आप। यों हर एक दफ्तर का बाबू अपने बॉस या आक़ा को खुश रखने के लिये विविध

तरीके जानता है। आका ज्योतिष में दिलचस्पी रखते हों तो ये सब दफ़्तरिये ज्योतषी बन जाते हैं और उसे बागवानी से शौक़ हो तो सभी कारकुन पोचा के बीजों का कैटलौग बन जाते हैं।

घर लौट आने पर, इसी तरह मार्केटिंग करने जाते हैं तब, काला बाज़ार से चीजें बेचने वाले बनिये को—'हाँ सेठ जी, आप ही तो हमारे सबसे बड़े विश्वसनीय दूकानदार हैं!' और साग सब्ज़ी बेचने वाली कूंजड़िन तक को —'वाह, तुम्हारे खेत की मूली सबसे मीठी होती हैं, इसी से तो यहीं लेने आते हैं', इस आशा से आप खुश करते रहते है कि कुछ अधिक, कुछ बेहतर और कुछ एहतियात से माल मिले। पर आप भूलते हैं कि ऐसे ही स्तुति करने वाले सभी ग्राहक आते हैं, और व्यापारी सभी से मीठी बातें करते हैं। व्यापारी की हंसी गिलट के रुपये की तरह होती है।

आप घूस देने जाते हैं, वहाँ खुद भी इस घूसख़ोरी के शिकार ज़रूर होते ही हैं। सबसे अधिक विज्ञापित साबुन या फ़िल्म के लालच से शायद ही आप बचते हैं। और प्रवास में, सिनेमाघर में, मोटर स्टेंड पर, कहीं भी जहाँ जहाँ टिकट ख़रीदने का सवाल होता है, चुपके से पुलिसमैन को या अन्य पहचान वाले को दो-चार-पैसे-आने-रुपये 'चढ़ोतरा' दे देना अधिक सुविधाजनक होता है। यहां तक कि रेल में बैठाने में भी कुली महाशय किसी क्रोधी देवता से कम 'बलि' नहीं लेते। और डिब्बे के अंदर घुस जाने पर आप लाख कांग्रेसी हों अंदर बैठे मोटे ताजे दाढ़ीवाले सिख या रेशमी शलवार और लिप-स्टिक लगानेवाली शरणार्थिनी (!) से, चाहे वे बिलाटिकट ही क्यों न हों, आपको डरके पेश आना पड़ता है और उनके हिन्दूसभाई कुतर्कों की हाँ-में-हाँ मिलाना पड़ता है; नहीं तो आप को डर है कि कहीं आप उनके विरोध में कुछ सत्य-अहिंसा छांटने लगे तो सिक्ख की 'किरपान' अपनी 'किरपा' आप पर सीधे कर देगी और आप ही को छांटने

लगेगी, अथवा सिन्धिन अपनी सैन्धव ('तुरंग' नहीं) संस्कृति का परिचय देकर आपको स-सामान उसी डिब्बे की खिड़की से बाहर चलती ट्रेन से चुटकी में यों फेंक देगी जैसे कोई खटमल हो! इसलिए बदन पर शुद्ध खादी और सिर पर गांधी टोपी होने पर भी कहेंगे—जी-हां जी-हां, यह आपका ही कहना दुरस्त है सरदार जी! पाकिस्तान में ज़रूर ऐसा होता होगा, आदमी के दो टुकड़े करके फिर उन्हें जोड़ देते होंगे, फिर से सताने के लिये! ज़रूर ज़रूर! और सिन्ध में भी जी, आपका एक लाख से कम का कारोबार आप छोड़ कर नहीं आई होंगी! परसों मेरे एक गुजराती मित्र को थर्ड क्लास में चार इंच अपना पंदा टेकने भर जगह प्राप्त करने के लिये गुजरातियों को सुनाई गई चुनी-चुनी गालियां चुपचाप निगलनी पड़ीं। सिर्फ ट्रेन से उतरते वक्त वह बोला कि—'शरणार्थी भाईजान मैं भी एक गुजराती हूँ!'

घूस देने का एक प्रकार सिर्फ घूस लेनेवाले के मन को पहिचानना ही नहीं, उसकी सुप्त-गुप्त प्रांतीय अहंताओं को उभाड़ना भी होता है। जैसे पहिले प्रकार का उदाहरण एक हमारे सेठजी-मित्र हैं। वे चौथी हिन्दी पास हैं—अंग्रेजी और चीनी लिपि उनके लिये बराबर हैं। मगर उनकी लाइब्रेरी ऐसी अप-टु-डेट है—नई से नई किताब ऐसी न होगी जो उनकी अलमारी में मौजूद न हो। चाहे अलमारी में वे बेतरतीब ही क्यों न पड़ी हों और मकड़ों ने जाले ही क्यों न उन पर बनाये हों! मैंने उनके विद्या-प्रेम से चकित होकर पूछा—कि यह क्या मामला है? उन्होंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया— 'देखिये साहब, तरह-तरह के लेबर-इनस्पेक्टर और अफ़सरान आते हैं। किसी को मुर्ग-मुसल्लम प्यारा है, तो किसी की शैंडी से तृप्त होती है और किसी-किसी अफ़सर को यह खाना-पीना कुछ नहीं, किताबों का ही शौक होता है। यह लाइब्रेरी उन लोगों के लिये हैं। लाइब्रेरियन हमारे एम. ए. हैं। उन्हें हिदायत है कि अफसर आते ही उनकी पुस्तकों के संबंध में रुचि

की जानकारी हासिल करो और बहुत सी सुन्दर-सुन्दर, नई-नई, सुनहरी जिल्द की किताबें उन तक पहुँचा दो। जाते-जाते उनके मोटर में रखवा दो। देखता हूँ कैसे खुश नहीं होता है!

दूसरी बात का उदाहरण मुझ जैसे बहुभाषी को सहज मिल जाता है। एक पंजाबी साहब से परसों काम पड़ा—मैं भी वैसी थोड़ी-बहुत उर्दू हिन्दुस्तानी फांक सकता हूँ कोई बोली या वेश से पहिचान नहीं सकता कि शुद्ध हिन्दी का मैं कोई अध्ययन-शील आलोचक हूँ या जन्मना महाराष्ट्र ब्राह्मण हूँ। सो साहब उनसे आध घंटा बातें होती रहीं। उनसे मुझे कुछ व्यक्तिगत काम था—फायदा उठाना था। उनकी बात को काटूँ, तो मेरा काम गोल होता था। उतना मैं बातचीत में चंट हूँ। वे बोले आप का नाम क्या है? सिर्फ कह दिया कुछ पंजाबी लहजे से 'परभाकर'। फिर उन्होंने बताया कि ये हिन्दी-हिन्दी जो कहाती है, यह कैसे उर्दू में ज़बर्दस्ती 'संसकिरत अल्फाज़' ठूँस-ठूँस कर बनाई जा रही है; वैसे वे भी हिन्दी जानते हैं—उसमें रखा ही क्या है? पुरानी हिन्दी तो बाबाजी-लोगों की है: ये ही नानक, कबीर, तुलसीदास, मीरांबाई के भजन हैं। और नयी हिन्दी में भला कोई लेखक भी है? हमारी उर्दू के फलां-फलां शायर जैसा तड़पाने वाला और तेज़ कलाम कोई है? मैंने नम्रतापूर्वक दो-चार बड़े नाम लिये तो बोले—अरे भाई, हिन्दी के अक्सर सब अच्छे लेखक पंजाबी हैं—ये सुदर्शन, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, देवेन्द्र सत्यार्थी, यशपाल, अश्क, उदयशंकर भट्ट, प्रेमी, वात्स्यायन—सब लाहोरवाले हैं। मैंने मनमें कहा—अब लाहौर कहां? मुझे भी हां-में-हां भरते देख पंजाबी समझ कर वे बोले पंजाबवाला हिन्दी-उर्दू जानता है, 'ये यू० पी० वाले क्या जानें'? और नीचे दक्षिण में तो भाषा की लोगों को तमीज़ ही नहीं। मैंने कहा-'जी!' आगे कह रहे थे—खास तौर से गुजराती और मरेठे! (एक गाली देकर) उन्हें तो कोई शऊर ही नहीं। मैं चुपचाप उनकी बात पीता रहा,

कहा,—'जी!' मुझे उनसे गरज़ थी। और आखिर तक वे जान नहीं पाये कि मेरी मातृभाषा उर्दू से भिन्न कोई हो सकती है। मेरा काम हो गया।

जैसे मातृभाषा, वैसे खाने के ढंग, पहिनावे और अपने शहर के प्रति लोगों को झूठा अहंकार होता है। आप उसे लहका दीजिये, आपका काम बन जायेगा। उस दिन एक सिन्धी बहन के यहाँ मुझे सिर्फ यह रसपूर्वक कहने पर कि—बस चावल तो सिन्धी ही बनाना जानता है, क्या वो शहाज़ीरे उसमें पड़ते हैं और एक एक चावल का दाना अलग! मुझे ऐसा बढ़िया खाना मिला कि क्या कहिये! तात्पर्य, स्तुति-प्रिय होता कौन नहीं? शूर्पणखा और अष्टावक्र भी स्तुति से अपने आप को उर्वशी और मदन समझते होंगे। देवता तो विशेष रूप से घूस-प्रिय हैं। जितने अधिक मोदक आप दें उतने ही गणेश जी अधिक प्रसन्न होंगे। शिवजी तो धतूरे से ही खुश हैं, और कुछ बेचारे देवता ऐसे अल्पसंतोषी हैं कि एक पैसा उन्हें प्रसन्न कर देता है, या एक नारियल। Anti Corruption Committee को यानी घूसखोरी-रोक-समिति को इन देवताओं और उनके भक्तों को भी विचार में लेना चाहिये। कुछ तांत्रिक देवता कुमारी बलि भी लेते थे। सुनता हूँ रियासतों में अभी भी यह घूसखोरी के मांसल ढंग चलते रहते हैं। जो पैसे और डाली और चीजों से प्रसन्न नहीं होते उन्हें सजीव 'भोग' लगाना ही पड़ता है! आखिर पुराणों में भी ऋषि-मुनियों की कथायें हैं ही जिनके संताप को कम कर, कृपाकिरण प्राप्त करने, राजा लोगों ने अपनी बीवियों को 'नियोगार्थ' या अन्यथा भेजा था! भारतीय सांस्कृतिक परंपरा घूस के खिलाफ नहीं!

अंत में एक चुटकुला एक घूसप्रिय अफसर का सुनाता हूँ। वे अपने बैठके में बैठते थे उनके मुसाहिबों ने यह प्रवाद फैला रक्खा था कि 'अफसर साहब बहुत सत्यप्रिय, न्यायप्रिय हैं, वे कभी पैसे

को छूते तक नहीं। परन्तु अफसर से काम लेने वाले सेठों को मालूम था कि अफ़सर साहब के बैठके में जो चिक का पर्दा है उसके पीछे अफसरानी (इसे सिन्धी नाम न समझें) अपना लोहे का खाली चूल्हा रखती थीं। सो बहुत बात बहस के बाद जब सेठ जी आँक बढ़ाते जाते —तो पांच सौ ले लें"। "नहीं नहीं जी, ये बातें मुझे पसंद नहीं'। सेठ जी—तो सात सौ ले लें। 'मैं घर से निकाल दूँगा, जो घूस की बात की!' सेठ जी—तो नौ सौ से काम नहीं चलेगा?' 'मैंने हजार बार कह दिया है···'। सेठ जी —"तो ठीक है हज़ार पर निपटा दीजिये और फैसला मेरे ही फेवर में कर दें।' तब बहुत बहुत गुस्से का अभिनय कर अफसर साहब कहते—'डाल दे अपने हजार रुपये उधर चूल्हे में! मैं अपने सिद्धान्त पर अटल रहता हूँ।' सेठ जी भाव ताड़ लेते। उठते। जाते समय चुपके से नोट का बंडल चिक के पीछे वाले लोहे के चूल्हे में डाल देते। और काम बन जाता।

अब मेरी यानी हिंदी के एक गरीब लेखक की आप पाठकों से यही इल्तिजा है कि कुछ लेखक जनों को भी घूस दिया कीजिए। वे आप के भाषण मुफ्त लिख देंगे। फोटो छपा कर जीवनियाँ लिख देंगे ज़रूरत पड़ी तो आप की पत्नी के नाम गद्य-काव्य भी लिख देंगे।
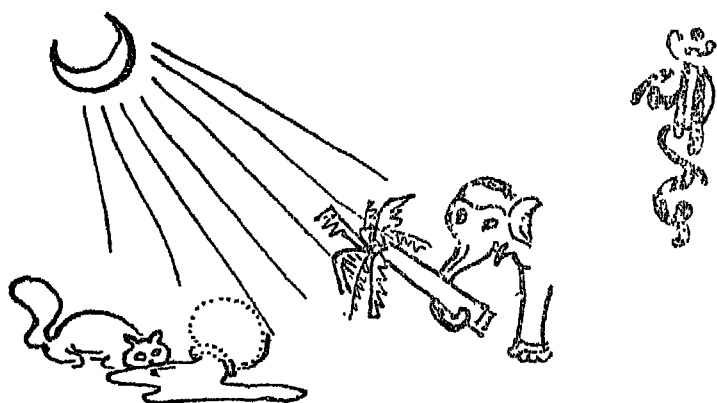
चाँद और कवियों का चोली-दामन का सम्बन्ध है। शेक्सपीयर ने इसीलिए कवि, प्रेमी और 'ल्यूनैटिक' (चंद्र-पीड़ित=पागल) तीनों को कल्पना से ठसाठस भरा हुआ माना था। अप्पय दीक्षित ने तो उपमा और रूपकों के उन्नीस प्रकारों के अलंकारों को सिर्फ—'मुख चंद्रमा के समान है; चंद्र है कि मुख है; मुख नहीं, चंद्रमा है; मुखचंद्र; मुख देखकर चकोर पागल हो गया वगैरह-वगैरह एक ही वाक्य के विभिन्न रूपों में नचाया है। रीतिकालीन कवियों ने कहा है कि परमात्मा ने राधा को गढ़ा; उसमें से बची-खुची मिट्टी का लड्डू चाँद बना और 'कर झारे भये तारे हैं!' सूफ़ी कवि जी कहते हैं—

'गह दम ज़ अन्देशए माहे ज़नी।
गह ब फ़लक बीनिश्रो आहेज़नी॥'

(अर्थात्—कभी तो तू किसी चंद्रमुखी के ध्यान में रहता है और

चंद्रमा की ओर देख कर आहें भरता है।) शायद इसी कारण हिन्दी के एक आधुनिक कवि त्रिलोचन ने बड़ी बढ़िया बात कही है —'अगर चाँद मर जाता, तो क्या करते ये सब कवि ?' और अज्ञेय ने 'वंचना है चाँदनी सित।'

चाँद के बारे में संस्कृत कवियों ने जितने उत्साह से काम लिया है शायद ही कोई उतना उत्साह दिखाये। सागर-मंथन के समय चंद्रमा एक 'रत्न' के रूप में बाहर निकला, हलाहल के पश्चात्। शिवजी ने विष तो गले में अटका लिया ही था, चाँद भी अपनी जटा में लटका लिया—तब शायद चंद्रशेखर को पता नहीं था कि १९४७ में भारत के जो दो उपनिवेश होंगे; उनमें के एक हिस्से का झंडा हरा 'हिलाल' (दूज का चाँद) युक्त होगा। 'दूज के चाँद' से मुझे बात याद आ गई—रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा रचित बच्चों की कविताओं के एक अंग्रेज़ी संग्रह का तो यह नाम है ही, परन्तु 'हिमालय' (११) में समाजवादी नेता जयप्रकाशनारायण की एक कहानी भी इसी शीर्षक से छपी है। समाजवादियों के बारे में इसीलिए कहते हैं कि आकाश का चाँद उनके हाथों में आ गया। चंद्रमा की उत्पत्ति सागर से हुई, तो कोई कहते हैं कि अत्रि ऋषि के नेत्र से हुई—

'अयं नेत्रादत्रे रजनि रजनी वल्लभ इति
भ्रमः कोऽयं प्रज्ञापरिचय पराधीन मनसाम्।'

चंद्रमा के रिश्ते भी बहुत मज़ेदार हैं। सागर पिता, चंद्र पुत्र : इस कारण से जहाँ क्षितिज पर चंद्रमा का उदय हुआ कि कुमुदिनी अपने प्रियतम का मुख देखकर धीरे-धीरे उसी प्रकार खिलखिलाने लगती है; जैसे साबुन के विज्ञापनों में सिनेमास्टारें अपने नकली दाँतों का प्रदर्शन करती हैं। परन्तु कुमुदिनी अकेली चंद्रमा की प्रेयसी नहीं; स्वयम् पूर्व दिशा चंद्र से प्रेम-क्रीड़ा करती है—तभी पूरबवाले कुछ सपनीली चाँदनी में ही जैसे विचरते रहते हैं। पूर्व दिशा बड़ी

रँगीली है : रात के आरम्भ में वह चंद्रमा से प्रणय करती है : रात बीती कि वह सूर्य के गले जा पड़ती है; बेचारा चाँद अपनी प्रिया का इस प्रकार दूसरे के बाहुओं में विश्राम पाना और मुंह लाल होना देखकर मनोभंग के कारण तेजहीन, फीका मुंह लिये लौट जाता है। उसका चेहरा जैसे फ़क हो जाता है। देखिए लिखा है :

'संश्लिष्टा सानुरागं स्वकरपरिचयप्राप्त भूरि प्रसादा
या पूर्वा मुक्तपूर्वा रविकरकलितां तामुदीक्ष्यामृतांशुः।
निस्तेजाः पश्चिमाब्धौ प्रविशति हि सतां दुःसहो मानभंगः
किं वक्तव्यं सितांशोः स तु सकलसतां मण्डलस्यापि नेता ॥

चन्द्रमा की एक प्रिया रात भी है। इसी से वह रजनीनाथ, निशापति, राकेश कहलाता है। चाँद और रात दोनों का आकाश के कुंज में मिलन होता है। चाँद उसके काले केश-पाश अपनी किरणों की अंगुलियों से संयमित करता है और कुछ प्रेम व्यक्त करने में, उस रात का काला वस्त्र खिसक पड़ता है—चाँदनी फैलने का यह संस्कृत कवि का वर्णन बेहद रोमैंटिक है :

अंगुलीभिरिव केशसंचयं, संनियम्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृत सरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥
नभोलताकुंजमुपागतायाः प्रमोदपर्याकुलतारकायाः।
निशांगनायाः स्फुरताकरेण शशीः तमः कंचुकमुन्मुमोच ॥

सावधान, कहीं ऐसा वर्णन, ऐ आधुनिक कवि, तू मत कर देना। तुझे अश्लील-अश्लील कह कर आलोचक पत्थरों से मार देंगे; मगर संस्कृत कवि सु-संस्कृत थे, उन्हें सब कुछ क्षम्य है। वे हमारी प्राचीन संस्कृति के कलंकविहीन चन्द्रमा के अक्षुण्ण राकातेज के एकमात्र रक्षक जो ठहरे!

चन्द्रमा को पुराणों में अमृत का घड़ा भी माना गया है। चाँद जो बढ़ता और घटता है उसका एक कारण यह है कि एक पखवारे में

यह घड़ा भरता है (अमृत का नल किस वाटरवर्क्स से आता होगा पता नहीं ?) और एक-एक देवता उसे पी-पीकर ख़ाली किये जाते हैं सो बेचारा दुबला होता जाता है। अपनी आँखों से तो पूर्णचन्द्र और अन्तकालीन सूरज एक से मोटे ज्ञान पड़ते हैं; मगर वैज्ञानिक बतलायेंगे कि चाँदमियाँ का 'व्यास' (घेरा) अपनी ज़मीन के सिर्फ़ एक चौथाई है। चन्द्रमा, जो कि पृथ्वी से २,३९,००० मील दूर है और तिस पर भी सब से पास है—और जिनके नाम से अंग्रेज़ी 'मन्थ' या 'माह' शब्द हुआ, २८ दिन ७घण्टे ४३ मिनिट १४ सैकिंड में हमारी पृथ्वी के आसपास पूरा चक्कर काटते हैं। बाबिलोनी लोग समझते थे कि चाँद के दो पहलू हैं : एक काला, एक सफेद। और वह मौज के अनुसार अपना 'साँवल-उज्जल' रूप हम दुनियावालों को दिखाता है। जार्ज डार्विन ने अनुसन्धानों से यह पता लगता है कि चाँद की यह हरकत कि वह पृथ्वी के हृदयसमुद्र में यों भावोर्मि जाग्रत करे, अवश्य पृथ्वी की घूमने की गति को कुछ मन्द करती होगी। इस प्रकार पृथ्वी के दिन को चाँद के दिन के बराबर तक आने में सिर्फ़ ५०,०००,०००,००० वर्ष लगेंगे। उस समय के पश्चात् हम देखेंगे कि चाँद हमारे बहुत पास आ गया है। बारह हज़ार मील की समीपता के कारण पृथ्वी पर प्रचण्ड ज्वार उठेंगे, चाँद टुकड़े-टुकड़े हो जायगा; और चाँद के आसपास भी शनि की भाँति छोटे-छोटे उपग्रह पैदा हो जायेंगे। वैसे चाँद ख़ुद ही पृथ्वी का एक नौकर मात्र है—लतीनी भाषा में उपग्रह को 'सैटलाइट' अर्थात् नौकर कहते हैं। वैसे ही वैज्ञानिक सुझाते हैं कि एक ज़माने में चाँद अपने ही घर का एक रहने वाला था। इस घर से दूर होकर, उसने अपना अलग 'चाँदिस्तान' बसा लिया, वर्ना पृथ्वी-चाँद कभी एक ही 'धातु' के बने थे।

चन्द्रग्रहण भी एक अजीब चीज़ है। भूगोल का छठी जमात का विद्यार्थी जानता है कि यह ग्रहण सूरज-पृथ्वी-चाँद के एक रेखा में

आने से और पृथ्वी की छाया चन्द्र पर गिरने से होता है। चन्द्रमा का खग्रास ग्रहण अधिक से अधिक १ घण्टा ५० मिनिट रह सकता है। चाँद को इतना समय क्यों पसन्द आया यह पता नहीं; पर अक्सर डेढ़-दो घण्टों तक कुछ-कुछ इंजेक्शनों का असर रहता है। डाक्टर राहु चन्द्रमा के साथ कुछ ऐसा ही करते होंगे। रोगियों को योंही नहीं पांडुर-मुख कहा जाता। परन्तु संस्कृत कवि सब चीज़ों की हद कर देते हैं। ग्रहण का समय हो गया है, हे चन्द्रानना सुन्दरियों, अपने आपको सँभालो! घर के बाहर कहीं मत आना, वर्ना राहु तुम्हें ही चाँद समझ कर खा जायगा—

> प्रविश झटिति गेहे मा बहिस्तिष्ठ कान्ते
> ग्रहणसमयवेलां वर्तते शीतरश्मेः।
> तव मुखकमलाङ्कं वीक्ष्य नूनं स राहु—
> ग्रसिति तव मुखेन्दुं पूर्णचन्द्रं विहाय॥

चाँद पर एक दाग़ होता है। फ़ारसी कवियों ने जैसे मुख पर के तिल पर अत्यधिक कहा है, चन्द्र की इस कलंक-शोभा ने भी सोचने-वालों को, कल्पनाशीलों को, कम मसाला नहीं दिया है। यूरोप में इस दाग़ को लेकर निम्न किम्वदंतियाँ प्रसिद्ध हैं—कोई कहते हैं एक आदमी इतवार को लकड़ियाँ बीनने वहाँ गया, सो वहीं रह गया। कोई उसे 'चाँद में हृदय में की सुन्दरी' मानते हैं; कोई 'पुस्तक पढ़ने वाली लड़की' मानते हैं, तो कोई उसे कर्क (कॅकड़ा) कहते हैं, तो कोई उसे गधा समझते हैं। ये सब चित्र देखने हों तो Marvels & Mysteries of Science में पृष्ठ ३३ पर चित्रकार ने बड़ी खूबी से बनाये हैं। मगर हमारे संस्कृत कवियों की कल्पनाशक्ति क्या आप कम उर्वरा समझते हैं? सागरमंथन के समय चाँद जब बाहर आया तो उसे मेरुमंदार पर्वत का धक्का लग गया। वही ज़ख्म का दाग़ वहाँ बैठ गया सो बैठ गया। रोज़ रात को चाँद आकर अँधेरा

निगल जाता है, उसके पारदर्शक उदर में से वही कलंक झलकता है। शृङ्गारचेष्टाओं के पश्चात् श्रान्त होकर चन्द्र की छाती पर सोई उसकी प्रिया रजनी है। किसी पापी की नज़र न लगे इसलिये विधाता ने चन्द्रमुख पर 'डिठौना' अंकित किया है। राहु के डर से चन्द्र के आश्रय में आया हुआ वह खरगोश या हिरन है।

'एको हि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः।'

कालिदास तो यहाँ तक कहते हैं कि विधाता मूर्ख और आलसी है; वह क्या उर्वशी को बना सकता है? उसे तो चन्द्रमा ने ही बनाया है। बेचारे वैज्ञानिक! उस सुन्दर चन्द्रमुख पर के 'कज्जल-बिंदु' को गैलिलीओ ने १६१० ईस्वी में ही 'मारे सरेनिटेटिस (शान्तसरोवर), मारे इम्ब्रियम' (तुषार सागर) इत्यादि नाम दे डाले थे।

कुछ कवि मुख को चन्द्रमा की उपमा देकर संतुष्ट नहीं होते। वे कहते हैं—'सचमुच में किसी आकर्णसरोजाक्षी के मुख को चन्द्रमा की उपमा देना मूर्खता है, पामरता है!' क्योंकि 'चंद्र आख़िर है क्या?' एक साधारण जलबिंदु! उस श्याम कोमल कपोल वाले की तुलना पानी की बूंद से भला हो सकती है? एक प्रेमी अपनी प्रेयसी से कहते हैं—'जब तुम पास होती हो तो भला इस चाँद को अपना मुंह दिखाने में खीझ क्यों नहीं लगती। यदि चन्द्रमा को इस बात का गर्व है कि वह अमृत अपने पास रखता है तो उसे ज़रा जाकर कह देना कि 'दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तदप्यस्त्येव बिंबाधारे! (बिंबाधरों में भी उससे अधिक अमृत है।) 'यह चाँद भिखारी है—सूरज से तेज माँगा; अब लावण्यवतियों के दर-दर घूमता है कि कुछ कांति उधार दे दे। यह क़र्ज़दार है!' एक कवि उससे आगे बढ़ गये—'यों भटकते-भटकते चाँद को पता लगा कि वह निष्कलंक मुख चन्द्रमन्डल से कभी बढ़ ही नहीं सकता। तब व्रीड़ा के मारे निशापति पश्चिम समुद्र में डूब गये!'

भर्तृहरि तो चिढ़ गये—'कवि सब मूर्ख हैं। मुख आख़िर हाड़-मांस-लार-कफ़ सबसे भरा है, फिर भी ये पागल उसकी तुलना चन्द्रबिंब से करके उसी काल्पनिक सौंदर्यानंद में मग्न हैं!' कैसा प्रगतिशील यथार्थवाद है!

एक कविजी इसी पृथ्वी पर स्वर्ग का अनुभव करते हैं। पद्माकर के 'गुलगुले गलीचे हैं, गिलमे, गुलाब जल,' की भाँति वे कहते हैं—'मेरे पास कालिदास के काव्यग्रन्थ हैं; नववय की महिषी (रानी) है; शक्कर से भरा हुआ दूध का प्याला है (शायद यह कन्ट्रोल के ज़माने में लिखी कविता नहीं है, वर्ना—

'अमृत के बदले में बालम, मटकिन्ने में गुड़ की चा है!

तिलोत्तमा औ उर्वशी छवि को सिनमास्टारों ने खींचा है!!'

(कहता) सिर्फ़ कमी है तो शरच्चन्द्र के उदय की!! विरह में यदि चन्द्र का दर्शन कर लिया तो प्रबल उत्ताप से प्रेमिका जल कर मर भी जा सकती है। कालिदास का दुष्यन्त इसी प्रकार की शिकायत करता है। पतिविरह से झुलसी हुई यक्षी चन्द्र का मुँह देखने की भी हिम्मत नहीं करती; और महाश्वेता का प्रियकर पुण्डरीक चन्द्र-दर्शन से मर गया—(यानी आत्महत्या का बहुत सुलभ और सस्ता उपाय है; पौटैशियम साइनाइड की भी ज़रूरत नहीं। पूनम के दिन उठे, चाँद देखा और बस सीधे यमलोक का टिकट कटा लिया।)

धन्य हो संस्कृत कवि! तुम्हारा चाँद आकाशविपिन का सिंह है, मदन का राजछत्र है; सुरांगनाओं का क्रीड़ा-कंदुक है, कामदेव की जा[illegible] की अँगूठी है; 'जयति कुमुदबन्धुर्बन्धुरश्चन्द्रबिंब!!' अब हटिए—चाँदनी फैलने लगी। त्यों ही वृक्षों में से झाँककर चन्द्रकिरणों को कमल दन्ड मान कर हाथी खाने लगे; कोई विलासिनी काम-केलि के पश्चात्, मेरी रेशमी साड़ी ही तो यहाँ नहीं फैली है, ऐसे मधुर भ्रम में उस चाँदनी को उठाने लगी; कोई बिल्ली यह समझ कर कि मेरे आस-पास

चाँद

एक बड़ी भारी दूध की गगरी छनक कर फैल गयी है, अपने आप-पास चारों ओर चाटने लगती है। और लीजिए, रेकार्ड उधर घिस गया है और वही कड़ी बार-बार दुहराता है—"ऐ चाँद! छिप ना जाना!" "ऐ चाँद छिप ना जाना।"

और 'नासिख़' का यह वर्णन भी सुन लीजिए :

मेरे घर की राह कतरा कर निकल जाता है चाँद
रहती है फ़ुरकत की शब बाहर ही बाहर चाँदनी ॥
धूप आती है नज़र तारीक साये की तरह
मेरे घर में है अँधेरे के बराबर चाँदनी ॥
भूल कर ओ चाँद के टुकड़े इधर आ जा कभी
मेरे वीराने में भी हो जाय दम भर चाँदनी ॥
क्या शबे-महताब में बे यार जाऊँ बाग को
सारे पत्तों को बना देती है ख़ंजर चाँदनी ॥

अँग्रेज़ी वर्णमाला के तेरहवें चौदहवें अक्षरों के बीच दो शून्य जैसे अंडे बना दीजिये, हो गया चाँद।

[MOON]

परख

लीजिये, हमारे धोबीराज सामने आ गये। राम को सीता-त्याग कराने पर बाध्य करनेवाले पौराणिक धोबी नहीं या सनलाइट सोप के विज्ञापन में कपड़े छोटने में उसके साथ पहलवान की सी धींगामुश्ती करने वाले काल्पनिक (क्योंकि कौन धोबी ऐसा बेवकूफ होगा कि कपड़े धोने पर अपनी इतनी शक्ति व्यर्थ खर्च करे!) धोबी नहीं। प्रत्यक्ष, कभी भी नियम से वक्त पर हमारे कपड़े धोकर न लाने वाले, अक्सर कपड़ों की मच्छरदानी बना कर या कहीं-न कहीं फाड़ कर लाने वाले रजकिनी रामी के स्वामी।

धोबी अपने कपड़े जिस जानवर पर लादता है, उसकी बुद्धि का 'संसर्ग संगदोषेण' न्याय से शायद कुछ उस पशु के पालक इस धोबी की बुद्धि पर भी असर पड़ता होगा। मगर आज धोबी क्या बोल रहा था, उसकी आत्मा से (धोबी को आत्मा होती है या नहीं, यह विषय रिसर्च

स्कालरों के लिये छोड़ दूँ) एकदम छठा या सातवाँ या जिस किसी नम्बर का हो—'इन्टरनेशनल' (अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी संघ)(बोल रहा था। उसने कहा 'हमारी धोबी-महासभा ने धुलाई के दाम दुगने कर दिये हैं।' यानी नौ रुपया सैकड़ा से अठारह रुपये सैकड़ा—मैंने मन में हिसाब किया कि फ़ी कपड़ा दुअन्नी अर्थात् आठ पैसे हुए। एक कपड़े की मिली जिन्दगी में महीने में तीन बार समझो तो भी सालाना चार रुपये से ज्यादा धुलाई पड़ी और अगर कपड़े की जिन्दगी औसत दो साल (और कन्ट्रोल के कपड़े की तो एक साल) मान लें तो...।

यह मेरा गणित चलता ही रहता कि संत नामदेव और नासिरुद्दीन खिलजी के वंशज श्रीमान् दर्ज़ी जी पधारे. और बिल पेश किया। बिल क्या था पूरा शेषनाग का ही बिल समझिये। इतने में पड़ोस से कहीं से बढ़िया रेकर्ड सुनाई पड़ा—'झीनी झीनी बीनी चदरिया...वा चादर सुर-नर-मुनि ओढ़ी, ओढ़िकै मैली कीनी चदरिया।' वाह रे दास कबीर, खूब कह गये! आजकल तो बाजार में ही नहीं मिलती। परसों अखबार में पढ़ा—चादर के बदले टाट काम में लाइये। और इधर तो मैंने अखबार पढ़ना ही छोड़ दिया है, क्योंकि हम 'सफ़ेद'-पोशों को वैसे ही कपड़ा 'काला'-बाज़ार से लाना पड़ता है, तिसपर रोज़मर्रा की इन डरावनी खबरों का सिरदर्द—आज फलाँ-फलाँ मिल में हड़ताल, कल अमुक-अमुक तंतु-व्यवसाय-कारीगरों की सभा। हम आजिज़ आ गये साहब इन बुनकरों से। इनकी हड़तालें हैं कि द्रौपदी का चीर है। 'खींचता हूँ जितना उसको, वो तो खिंचता जाय रे!'

इसलिये मेरे कपड़े पहनने वाले दोस्तो! (क्योंकि मुझे उम्मीद है कि इस लेख का ऐसा कोई भी पाठक न होगा जो वि-वस्त्र या अ-कपड़ा-धारी होगा) या बर्नार्ड शा के शब्दों में 'ऐ इंसानों, जो कि अपने दर्ज़ियों को खुदा समझते हो।! 'मुँह' के बाद 'व्यक्तित्व' या 'पर्सनैलिटी' नामक अव्यक्त, अगम, अगोचर, अनाहत, अपरिभाषेय,

आत्म-तत्व में शुमार होनेवाली दूसरी चीज़ कपड़ा या 'वस्त्र' या पोशाक पर मैं कल्पना के तार खींचना, दिमाग़ी चर्ख़ा चलाना, विचार बुनना या 'वर्ण'-मय करना चाहता हूँ। कपास के बीज बोने से लगा कर 'डाइंग' (मरने के अर्थ में नहीं) खाते तक की 'ई रँगरेजवा के मरम न जाने' वाली क्रियाओं की चर्चा व्यर्थ है। क्योंकि अखिल भारतीय बुनकर तथा चर्खा-संघ से लगा कर रंग बनाने वाले रासायनिक कारखानों तक, बल्कि उस रंग को बेरंग बनाने वाले पहनने वालों तक या कच्चा रंग होने पर धोबियों तक बढ़ा कर मैं बात को तूल नहीं देना चाहता। यों बट पड़ने से बात के रेशे टूट जायँगे; उन पर हास्यरस की माँड नहीं चढ़ेगी। मैं तो रेडीमेड कपड़े की बात लेता हूँ, क्योंकि आज के ज़माने में फ़ी आदमी रेडीमेड विचारों और सिद्धान्तों को अपने ऊपर ओढ़ लेने की बेहद कोशिश चल रही है। नतीजा वही होता है कि जो दुर्गा मोटा को या किसी हड्डी-पसलियों की ठठरी को रेडीमेड कपड़े पहनाने की कोशिश कराने से होगा। अपने कपड़े और वैसे ही विचारों में हम सब 'मिसफ़िट' बने चलते हैं। जैसे मोटेराम शास्त्री जालीदार गंजीफ़्राक़ या 'बनियान' पहने; या मिस्टर लकलक डबलब्रेस्ट का कोट पहने (जबकि ब्रेस्ट शायद उनके सिगन भी नहीं होती) या कोई देशभक्त की पोशाक पहन कर (यानी ढीली ढाली धोती, ढीला कुर्ता, ढीली चादर) तैरने की या वन-माइल-रेस की प्रतिस्पर्द्धा में खड़ा हो। या कि प्रेम करने के रोमैंटिक मूड में नायक मास्टरों का सा मुहर्रमी बन्द गले का पारसी कोट पहने। आप कल्पना कीजिये कि कालेज की कक्षा में अगर कोई विद्यार्थी ज़िरहबख़्तर वग़ैरह पहन कर आ जाय तो उसे आप हैम्लेट का 'भूत' बाप ही कहेंगे न ? और जहां लड़ाई का मैदान हो वहाँ अगर छायावादी कवि की पोशाक पहन कर कोई आ जाय!...ठीक वही बात आज कपड़े और आदमी

के बीच में हो रही है। कपड़े आदमी के लिए नहीं रहे; आदमी कपड़े के लिए बन गये हैं।

हिन्दुस्तान या भारतवर्ष की आदर्श पोशाक क्या हो? वग़ैरह गंभीर मसले तै करने का ठेका मैंने नहीं लिया है। वह मैं समस्या-नाटक लिखने वालों ('फेल्ट हैट' या 'रेशमी टाई') के भारतीय-संस्कृति-रक्षकपन पर छोड़ दूं; या फिर हिन्दी के एक कवि का उपनाम ही नारी-परिधान-अंग-विशेष को लेकर है। (मैं नाम नहीं बताऊँगा —'चंचल' की तुक तो आप जानते ही है)। अभी-अभी एक मासिक में एक लेख का मैंने शीर्षक पढ़ा—'लकड़ी के शर्ट और काँच के ब्लाउज़!' ये साइंटिस्ट लोग भी दूसरे विश्वामित्र हैं। वे जो आविष्कार करें सो थोड़ा है। कल वे शायद ऐसा भी आविष्कार कर दें कि आदमी कपड़ा न पहनते हुए भी कपड़े पहना-सा नज़र आये। जैसे कि कई फैशनेबुल तरुणियाँ झीना, बदन के ही रङ्ग को 'मैच' करता सा कुछ ऐसा कपड़ा पहनती हैं कि पहन कर भी न-पहने का-सा आभास हो। और कपड़ा आखिर है ही क्या? आभास ही तो है। कभी सिनेमा वालों के प्रत्यक्ष कपड़े देखे हैं। सफेद रङ्ग के लिए उन्हें पीला पहनना पड़ता है और काले के लिए लाल। हमारे पण्डित वेदवाचस्पति शास्त्री जी ने यह ख़बर पढ़ी ही थी कि बोले —ये वैज्ञानिक कौन सी नई वस्तु दे रहे हैं। हमारी प्राचीन संस्कृति में तो वल्कल वस्त्र थे ही। कालिदास ही कह गये हैं कि—'इय-मधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी, किमिवहि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्!'

(वल्कल पहन कर भी वह सुंदरी है! स्वाभविक सौंदर्य को मंडना-अलंकार अनावश्यक होता है।)

मैं अपने मनोवैज्ञानिक मित्र से पूछ ही बैठा कि हम कपड़े क्यों पहनते हैं? क्योंकि मेरे मन में गहरी शंका है कि कपड़े पहनना अ-प्राकृतिक कर्म है; वर्ना हमारा सिरजनहार जन्म से ही हमें ऐसा क्यों नहीं पैदा करता कि गले से एक टाई टँकी हुई है, थ्री-पीस सूट बदन में चिपका

हुआ है, कफ़ जिसमें से कलाइयां को मण्डित करते हुए बाहर निकल रहे हैं—या महिला-शिशु के 'केस' में बदन से एक बनारसी साड़ी रा-बूच बँधी हुई है; स्लीवलेस ब्लाउज़ के पस्त कंधां पर बगलें झाँक रहे हैं। चूंकि खुदा की क़ुदरत ने हमें दिगंबर (जैन नहीं !) ही पैदा करना मंजूर किया है, वस्त्र हमारी उस प्रकृति पर ज़्यादती है। आदमी के प्रथम पाप की प्रलंबित छाया है कि हम आवरण, प्रतिसीरा, ढकना, छिपाना, नक़ाबपोश बनना पसद करते हैं। मैं कभी-कभी कल्पना करता हूँ कि मान लीजिये दुनिया के सब आदमी और औरतें जन्म से अन्त तक नक़ाबपोश ही रहते तो कितने अनर्थ टल जाते—प्रेम, जो कि रूपासक्ति की वजह से होता है, और उससे पैदा होने वाली किस्से लड़ाइयाँ वग़ैरह वगैरह कभी कुछ होते ही नहीं। आदमी आदमी को निरी आवाज़ से पहिचानता और हिन्दू-मुस्लिम एका ही क्या, कोई वर्णभेद ही नहीं रहता। नक़ाब के नीचे होने पर काले-गोरे का भेद न रहता; स्त्री-अपहरण का प्रश्न ही नहीं उठता, और सवर्ण-अवर्ण का पता ही नहीं चलता। मैं समझता हूँ कि एक अखिल भारतीय अथवा अखिल-विश्व पर्दा-एसोशिएसन या 'नक़ाबपोश-लीग' या प्रतिसीरा-महासमिति बना देनी चाहिए जिसमें क़ानून से सबको एकदम ढँका हुआ रहना पड़े। दुनिया के आधे से ज्यादह राग नष्ट हो जायेंगे, आप से आप। या फिर इसके ठीक उलटा हो कि हम आदम और हव्वा की पोशाक में डोला करें और दुनिया एक बड़ा सा बाथरूम बन जाय।

इतने में पंडितजी अपना पुराना सूत्र बोल उठे—'पटवच्च'। अम्ह सूत्र में ब्रह्म से दुनिया कैसे बनी इसका दृष्टान्त है कि जैसे लिपटा हुआ कपड़ा खुलता जाता है। उन्होंने कहा प्राचीन काल में वस्त्र चार प्रकार के होते थे; कुछ छाल से, कुछ फल से, कुछ कीड़ों से और कुछ रोओं से बनते थे; इन्हें क्रमशः क्षौम, कार्पास, कौषेय और रांकव कहते थे। इन्हें भी निबन्धनीय, प्रक्षेप्य और आरोप्य वैचित्र्यवश तीन प्रकार

से पहना जाता था। पगड़ी, साड़ी आदि निबन्धनीय हैं; चोली आदि प्रक्षेप्य हैं; उत्तरीय (चादर) आदि आरोप्य।'

पंडित जी ने इतना कह कर अपनी पाग उतार कर रख दी और शिखा फटकारने लगे। मैंने कहा—आज तो शिरस्त्राण भी भाँति-भाँति के चल पड़े हैं। दरबारी पगड़ी, मुसलमानी टोपी, फैज़ कैप, जिन्ना कैप, गाँधी टोपी, टौप हैट, फेल्ट हैट, साफ़ा, पगड़ी, मद्रासी 'रूमाली'। और भी पगड़ियों के अनेक प्रकार हैं-काठियावाड़ी, मराठी, भाटिया, बंगाली वग़ैरह। इस पगड़ी-बदल पगड़ियों के अनंत प्रकार के भाई चारे के बजाय और इन राजनैतिक टोपियों के बजाय जिसमें गाँधी कोई टोपी नहीं पहनते थे फिर भी टोपी उन्हीं के नाम से चलती है-(चाहे मक्खन-ज़ीन की सफेद टोपी के नीचे बनिया कैसा ही काला बाज़ार करता चला जाय) सबसे अच्छा कोई शिरोवस्त्र न पहनना ही है। पंडित जी बोले—तुम्हारा उपाय एक दम "रैडिकल" होता है। पुरखे बुरे थे, इसलिये पुरखे हों ही नहीं—यह कौन सी नीति है? हमने कहा—टोपी, पगड़ी वग़ैरह न पहनने के दो प्रधान फ़ायदे हैं;—नंबर एक, उतने ही दामों की बचत; नंबर दो, मुफ़्त में आधुनिक बंगाली बाबू, प्रगतिशील या कामरेड या जो कुछ आप कह लो बन जाना। पंडितजी बोले—दोनों बातें ग़लत—खुले सर का अर्थ है कंघी चोटी में, तेल-फुलेल में खर्च और उचक्का-अवारा या श्मशान-यात्रा के लिये जाने वाला सिद्ध होना। सो मैंने उसमें से उपाय यह निकाला कि हम सब लोग पुराने रईसों की तरह ज़री की गोल टोपियाँ क्यों न पहनें, जैसे बच्चे पहनते हैं; और हम सब बड़े बच्चे ही नहीं तो क्या हैं? वरना ऐसे लेख पढ़ते ही क्यों?

एक तार्किक का यह तर्क है कि रंगीन सुन्दर वस्त्र पहनने का विशेषाधिकार स्त्रियों को ही क्यों हो? यदि स्त्रियों को शिरस्त्राण-विरहित रहने का अधिकार है—क्योंकि भारतीय स्त्रियाँ विलायतिनों की तरह टोपी नहीं पहनतीं—तो पुरुष भला उस अधिकार से वंचित क्यों रहें?

रंग, रेशम-ज़री, लेस-गोटा, किनारी, फुन्दे, झालरें सब महिलाओं के वस्त्रों में तो अवश्य दी जायें और हम पुरुषों ने क्या पाप किया है जो भूरे-सफेद, हलके रंगों के या ऐसे ही मुहर्रमी रंग हमारे लिये ही हों? बसंती रंगकर बसंतपंचमी को और होली के दिन तो पूरे वस्त्रों का ही 'कलरबाक्स' या किसी चित्रकार का 'पैलेट' बनकर, हम लोग शायद इस हमेशा के बेरंग, विवर्ण वस्त्रविन्यास का प्रतिशोध लेते हैं। हमारे पूर्वज इस मामले में ज़्यादा रँगीले या रंगीन तबीयत लोग थे। अब तो महिलाएँ भी गांधी-युग में बिना किनारी की धुतही सफ़ेद साड़ियाँ पहनकर साहिबनें बन रही हैं। मगर वस्त्रों के रंग से आप को क्या फ़ायदा? शायद रंगरेज़ को हो तो हो?

तो वस्त्रों के एक सिरे टोपी-पगड़ी-फ़ैज-हैट दूसरे सिरे यानी कमर के नीचे पैर तक (या घुटने तक) जो कुछ पहना जाता है उस की चर्चा करें मैंने लंगोटी या लँगोट की बात जान बूझ कर छोड़ दी। क्योंकि थोड़े से भीलों या अखाड़ियों को छोड़ कर कौन खुशी से वह वस्त्र अपनायेगा? लँगोटिया यार यह शब्द भाषा में ज़रूर चल पड़ा है। और एक हिन्दू देवता श्री हनुमान जी ज़रूर उसी 'फुलड्रेस' में हमेशा पाये जाते हैं। यद्यपि हमारे एक मज़ाकिया मित्र हनुमान की पूंछ को लेकर यह रिसर्च कर रहे हैं कि यदि वह पूंछ हिलती-डोलती होगी तो वह लँगोट कैसे और कहाँ बाँधते होंगे। मगर शायद मेरी यह बात कुछ कमर के नीचे उतर आई।

'लुंगी' या तहमद; बायस्काउट या सिपाहियों की हाफपैन्ट और पट्टियाँ; ब्रिचेज़ या चूड़ीदार पायजामा; अलीगढ़ी या लखनवी ढीला पायजामा; शलवार, धोती, पैंट या पतलून आदि-आदि इस पोशाक के कई प्रकार हैं। अब इसमें भी प्रान्तीयता और जातीयता और सांप्रदायिकता और देशी-विदेशीयता इतनी आ जाती है कि करफ़्यू-आर्डर के इस युग में मैं इस चीज़ पर कमर कसना नहीं

चाहता। वर्ना कहीं आप पतलून से बाहर हो जायेंगे और अकबर इलाहाबादी कहते रहेंगे—'पतलून की ताक में लँगोटी भी गई।

वस्त्र की बात कुछ बहुत मर्दाना हो गई; या कहें कि इसमें 'पुरुषा-वृत्ति' का ही विशेष आविष्कार हुआ। सो कुछ देवी-परिधान की भी चर्चा करें। 'या शुभ्रवस्त्रावृता' सरस्वती; संक्रांतिदेवी के प्रतिवर्ष के नव-नवरूप और परिधान तथा आधुनिक देवियों के तितली के से फैशन परिवर्तन इन सबमें एक अटूट कड़ी है—'प्रातयुग में आती हो रंगिणि रच-रच रूप नवीन' (पंत)। इसी 'उर्वशी' की मेखला के स्खलन से रवीन्द्रनाथ कहते हैं 'अकस्मात् पुरुषेर वक्ष माझे नाचे रक्तधारा'। और रवीन्द्र की नफ़ासत न पाये हुए बेचारे भूषण ने लट्ठ भाषा में कहा 'बीबी गहे सुथनी?' पुरानी कविता पढ़ो, चाहे पुराने गुफ़ावासी चित्र देखो, चाहे पुरानी मूर्तियों पर कटाक्षपात करो—सर्वत्र-स्त्री-पुरुष समानता वस्त्रों के अनुल्लेख में आप पायेंगे। कंचुकी, अंचल या प्रतिसीरा और एक कटिवस्त्र-बस। पुराने लोग जान पड़ता है 'टाइलेट' पर ज्यादह समय नहीं खर्च करते थे। एक कारण तो उसका प्रधान यह रहा होगा कि तब सिंगर साहेब ने अपनी विश्व-विख्यात 'सोइंगमशीन' नहीं बनाई थी। अतः सिलाई विभाग हस्तशिल्प ही में था। लोग सहानुभूति पूर्वक दर्ज़ियों को कम कष्ट देते थे। अतः दुकूल (दो किनारी वाला कोई भी वस्त्र) दुशाला, दुपट्टा, जैसे द्वैत-रूप में ही वे अपने अद्वैतांग को ढांक लेते थे। वह सुविधाजनक भी था। अब आज कल देखिये दुपट्टा नहीं होता (जैसे तिलक, गोखले या मालवीय जी महाराज पहनते थे)। बजाय उस लंबे वस्त्र के दो उंगल की नेकटाई आ गई है। मान लीजिये सख्त धूप है; आप लम्बे रास्ते से जा रहे हैं और आप को प्यास लगी। रास्ते में कुँआ मिला। आप के पास लोटा भी है; परन्तु रस्सी नहीं। देखिये उपरना या दुपट्टा बनाम टाई में कौन सी चीज़ ज्यादा काम देगी? सो स्त्रियां इस मामले में

अधिक सौभाग्यवती हैं कि उनके वस्त्र पुरुषों से लंबे और उपयोगी होते हैं। यू० पी० में स्त्रियाँ 'धोती' पहनती हैं तो गुजरात में पुरुष के वस्त्र भी 'लुगड़ां' कहलाते हैं, और बंगाल में जामा सिर्फ पायजामे को ही नहीं पूरी पोशाक को कहते हैं। बंगाली कुर्ते को बंगाली 'पंजाबी' कहता है तो पंजाबी सलवार को दक्खिणी धोती-जामा। वैसे कपड़ों के नाम 'नयनसुख' और 'आंख का खुमार' और 'लाल इमली' और 'शबनम' होते हैं। जैसे हिन्दुस्तान में सिर्फ बिहार में भगवे रंग की कपास उगती है, सोवियत् रूस में लाल, हरी, काली और सतरंगी कपास भी उग गई है। (रूस चमत्कारमय देश है—हमारा भविष्य-पुराण कहता है कि रूस में रंगीन कपास ही क्या एक दिन 'कोट के पेड़', 'पाजामे के पौधे', 'साड़ी की खेती,' 'बाड़ी की बेल' आदि आदि भी जल्द ही होनेवाले हैं)। वैसे हमारे यहाँ भी वस्त्र पीतांबर हैं, नीलांबर भी हैं।

बात का 'सूत' बढ़ते बढ़ते 'तार खिंचता' ही जा रहा है। आप कहेंगे कि यह चरखा बंद हो तो अच्छा। मैं 'अरज़' करूँ कि मेरा यह वस्त्र-'पोत' बहुत बहक गया है, क्योंकि हवा में अस्तव्यस्तता है और आपके माथे पर भी 'सलवट' पड़ जाना स्वाभाविक है। छाती पर 'सिल' रख कर हम पढ़ते हैं—'बंगाली बाबू वस्त्राभाव में दफ़्तर में साड़ी पहन कर आया।...फलाँ-फलाँ महिला ने वस्त्राभाव में आत्म-हत्या करली' (लेकिन वह भी शायद साड़ी का फन्दा गले में डाल कर) तब मुझे लगता है कि हमें व्यक्तित्व को पोशाक से नापना छोड़ देना होगा। वर्ना किसी पी० सी० रे या राजेन्द्र बाबू को पोशाक से हम देहाती कह कर टाल देंगे और किसी बहुत बढ़िया अप-टु-डेट 'डैंडी' को देख कर समझेंगे कि यह बहुत पढ़ा-लिखा, विलायत-लौटा सभ्य है, जब कि यह मुमकिन है कि वह किसी थर्ड क्लास फ़िल्म कम्पनी का 'एक्स्ट्रा' हो, या सिर्फ़ जादू का तमाशा दिखाने वाला। सो भाई, यह पोशाक का

'लिफ़ाफ़ा' बड़ा ख़तरनाक है। लिफ़ाफ़े को फाड़ कर रद्दी की टोकरी के सुपुर्द हम करते हैं। मज़मून ज़्यादह ज़रूरी है। सो हमारे इस लेख को पढ़कर आप इसकी ऊल-जलूल भाषा पर नाराज़ न होना। इस आवरण के नीचे भी कुछ है, और बहुत महत्वपूर्ण है। यह पचरंगी चोला तो साँप की केंचुल है; 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय' है; संसार महानाट्य-शाला के 'मेक-अप'-रूम का पर्दा है! अच्छा तो अब हम अपनी 'चीज़-बस्त' समेटें।

[१९४६]
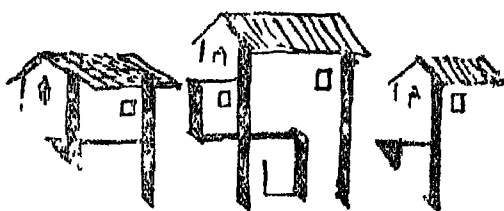
....मकानम् लामकां बाशद, निशानम् बेनिशां बाशद'
(सूफ़ी कवि रूमी)

खरगोश के सींग ? मिल सकते हैं। बालू से तेल ? मिल सकता है। हिन्दी-साप्ताहिकों में प्रेस की अशुद्धियों का अभाव ? मिल सकता है। पूंजीपति जो समाजवादी हो ? मिल सकता। परन्तु दिल्ली में—या भारत के किसी भी बड़े शहर में मकान ? नहीं मिल सकता। सुनते हैं नेपोलियन के शब्दकोश में 'असम्भव' शब्द नहीं था; परन्तु नेपोलियन यदि १९४७-४८ के भारत में होता, और बच्चू को अगर कहीं शरणार्थी बनना पड़ता तो......

इसलिए आजकल मैं शिष्टाचार के रूढ़ परम्परागत प्रश्न नं० २ को व्यक्तिगत अपमान समझने लगा हूँ। प्रश्न नं० १ तो आप सब जानते ही हैं—'आपका नाम ? या इस्मशरीफ ?' या 'कूण गोत हो

जी ?' या 'हल्लो, हू आर यू ?' और इसके बाद झट से टपक पड़ने वाला, परदेसी, अजनबी, नवागंतुक अतिथि को पूछा जानेवाला वैसा ही घिसा-पिटा सा सवाल—'आप कहाँ रहते हैं ?' जी में आता है कि टका सा जवाब देकर छुट्टी पा लूं कि 'रहते हैं जहन्नुम में, आप से मतलब ?' परन्तु फिर दबी ज़बान से गला साफ़ कर, कहना पड़ता है— [क्योंकि मुमकिन है प्रश्नकर्त्ता भी मकान-मालिक या उपमकान-मालिक (यह नवीन जाति हाल में पैदा हुई है; इनका काम अपने हिस्से के किराये के कमरों में से एक दो या डेढ़-ढाई कमरे 'सबलेट' करना है।) हो, और कुछ काम बन जाय]—अतः कह देता हूँ—'जी, क्या पूछा आपने ? अभी तो अपने एक रिश्तेदार/मुलाकाती के यहां ठहरा हूँ, या सराय में हूँ—मकान की ही तलाश में हूँ....'

और प्रश्नकर्त्ता बजाय अपनी प्रश्न-मालिका के पुष्प आगे पिरोकर उसे लंबा बनाने या बढ़ाने के, खिड़की से बाहर बाग को देखने लगता है; या शून्य-दृष्टि से रहस्यवादी की भाँति सामने पड़े मूढ़े में गूढ़ अर्थ खोजने में व्यस्त चुप मूढ़ सा बन जाता है; या फिर 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में, जिसे वह तीन बार पढ़ चुका है चौथी बार कुछ और विज्ञापन-रस प्राप्त करने का निरर्थक यत्न करता है। बातचीत का 'तार' यहीं टूट जाता है—और बाद में पता लगता है कि यह तार काटने वाला, कम्बख्त 'सैबेटयूर,' पंचम-स्तम्भीय, 'मकान' शब्द है। मकान का नाम लेते ही पुराने दोस्त दुश्मन बन जाते हैं; वातावरण में एक तनाव पैदा हो जाता है; धरती फट जाय, आसमान गिर पड़े, ऐसा कुछ लोगों को लगता है। क्योंकि अन्न की कमी पर तो क्षुधितों की पल्टनें 'हंगर-मार्च' कर सकती हैं; वस्त्राभाव में एक वकील अपनी बीबी की साड़ी की धोती बना पहन कर कोर्ट में जा सकता है; परन्तु मकानों के अभाव में कैसे और क्या करें ? मकान · यह व्यक्तिगत सम्पत्ति है, और कोई भी सरकार अथवा शासन-व्यवस्था इस बात का प्रबन्ध नहीं कर सकती कि सबको एक-एक

स्नान गृह, रसोईघर, अध्ययनकक्ष और प्रकोष्ठादि प्राप्त हो ! यह कैसे सम्भव है ? वैसे परमपिता परमात्मा ने आकाश की छत बहुत खूबसूरत बनाई है; उसमें सितारों के झाड़-फ़ानूस लटक रहे हैं और ऊँचे ऊँचे वृक्षों के स्तम्भ हैं। फ़ुटपाथ या गलियों के पास सड़क की पटरी जैसी शाहाना शय्या और कहां मिलेगी ? उस दिन मैंने सुना तो मैं हैरत में रह गया कि दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता जैसी महानगरियों में हजारों इन्सान बे-मकान हैं : एकदम सूफ़ी जलालुद्दीन रूमी के अनुयायी—'मकां पूछो तो मैं ला-मकां हूँ, पता पूछो तो मैं बे-पता हूँ !'

मकान-मालिक को अंग्रेजी में 'लैन्डलार्ड' और मकान-मालकिन (या 'मलिका') को 'लैन्ड-लेडी' क्यों कहा गया है, यह आपकी समझ में तब आयगा, जब आप दिन भर मकान की खोज में थक गये हों और वही सार्वजनिक मकान—फ़ुटपाथ—का प्रश्रय ले रहे हों; जबकि उन मलिक-महाराज की एक ही शहर में चार कोठियाँ खाली पड़ी हों (या उनमें चीनी, गेहूँ, चावल आदि भरा पड़ा हो !) आदमी की ज़िन्दगी से अधिक मूल्यवान चीनी-चावल, कपास, अलसी या जूट की ज़िन्दगी है ! आदमी बिला मकान फ़ुटपाथ पर पड़ा-पड़ा ठिठुर रहा है और चोरी से छिपाया हुआ अनाज या अन्य माल (कपड़ा आदि) मज़े से खुर्राटे भर रहा है ! हमारी सभ्यता इस स्तर पर आ चुकी है ! बंगाल के अकाल में खरीदार ही नहीं बच रहे थे, परन्तु चावल के दाम चढ़ा-चढ़ाकर मुनाफाखोर प्रसन्न हो रहा था। गांधी-भक्त कन्ट्रोल हटाने की बहुत बात कहते हैं, उनके कहने से अगर सचमुच कण्ट्रोल हट गये तो मुनाफाखोरी बिना-कण्ट्रोल बढ़ जायगी। देश के व्यापारी-वर्ग की नैतिकता के सम्बन्ध में गांधी-भक्त अभी काफी मुगालते में हैं। वे समझते हैं कि व्यापार भी एक 'कला' है। वह हो न हो, पर आजकल मकान प्राप्त करना एक 'कला' ही क्या, ललित-कला, सकल है। आपको 'पगड़ी' (यानी 'रिश्वत') अलग देनी पड़ती है, दलालों की खुशामद अलग करनी

पड़ती है, मकानमालिक के पचासों आर्डिनेन्स अलग बर्दाश्त करने पड़ते हैं—जैसे 'रात के नौ बजे के बाद बत्ती नहीं जलेगी,' 'जी हां, नहीं जलेगी !' 'नल का पानी नीचे से तीसरी मंज़िल पर ले जाना होगा,' 'जी हां, ले जायेंगे !' 'छः कुटुम्बों के फ्लैट में पाखाना एक ही 'कामन' है, उसे काम में लाना होगा'; 'जी हां, काम चला लेंगे !' और बाथरूम...इत्यादि इत्यादि। 'नायिका भेद' की भांति मकान मालिकों के भी अनन्त भेद हमें मालूम करने चाहिएं। परन्तु उन्हें लिखने वाला कोई देव या मतिराम अभी पैदा नहीं हुआ। उसका कारण है : आजकल दुनिया दो वर्गों में बंट गई है एक वे जिनके निजी मकान हैं, दूसरे वे जो किरायेदार हैं या होना चाहते हैं। इनका वर्ग युद्ध एकदम घोर रूप से चलता रहता है। किरायेदारों के भी ट्रेड-यूनियन जैसे सङ्घ बनते हैं, परन्तु व्यर्थ। मकानाधिपति एकदम नल काटकर या बिजली बन्द करके आपको ऐसा हैरान करना शुरू करते हैं कि 'संघ बंध' टूट जाते हैं। फिर एक और बात है, मकानमालिक में कुछ कुछ जर्मनी के डिक्टेटर हिटलर जैसी तानाशाही हिकमत होती है—यानी उसकी बात आप काट ही नहीं सकते। वह जो कुछ कहता है, वह सच है ही। अगर आप कांग्रेसी किरायेदार हैं और मकानमालिक डा० खरे के पक्ष का है, तो वह चाहे गांधी-नेहरू-पटेल एण्ड को० को गालियां ही बकता चला जाय, आप प्रतिवाद नहीं कर सकते। आप जानते हैं, प्रतिवाद का अर्थ है 'नोटिस' और मकान के बाहर (सड़कों पर) चलते फिरते नज़र आना !

मकान मालिक रूपी संस्था से यह बड़ा फायदा है कि अनुशासन, आज्ञाकारिता, आदेशपालन आदि जो बड़े-बड़े नीति-वचन कहे जाते हैं, उन्हें आप अनजाने ही सीख लेते हैं—उन्हें पालने लगते हैं। मैंने यहां तक सुना कि एक बेचारे अविवाहित ने मकान-प्राप्ति के इस घोर कार्य में सफलता पाने के लिए मकान मालिक की कुरूपा, भोंडी, चेचक

के दागों वाली, लंगड़ी, एंचकतानी, अपने से उम्र में बड़ी, अनब्याही लड़की से ब्याह करना मंजूर किया। मकान तो मिला, लड़की का क्या? रजिस्टर्ड पद्धति से सिविल मैरेज थी, तलाक बाद   ा जा सकता था। मकान प्राप्त करने के लिए लोग क्या-क्या नहीं करते? एक किरायेदार ने मकान-मालिक का फोटो छापकर उनकी बीवी की तारीफ़ में एक लेख छापने का वादा किया; दूसरे धर्मवीर ने अपना प्रगतिशील अधार्मिक मत छोड़कर सनातनी मकानमालिक को खुश करने के लिए जनेऊ, चोटी, चन्दन, भस्म आदि धारण करने का अभिवचन दिया और तीसरे ने तो स्वयं कट्टर 'परहेज़गार' होते हुये भी मकानमालिक से दोस्ती गांठने के लिए उसे विलायती मधुशाला से शराब लाकर पिलाई थी। आज की दुनिया में जो कुछ हो जाय, थोड़ा है। एक हमारे दोस्त भुतहे मकान में रहने लगे, यह अभूतपूर्व घटना है। उन्हें किसी भूत ने नहीं छेड़ा, ऐसा उनका दावा है।

एक बच्चे ने परसों हमें एक पहेली बूझने को कहा—बताओ वह तीन अक्षरों का शब्द कौन-सा है जिसका पहिला और तीसरा अक्षर मिलकर जो चीज बने वह 'एक' है, दूसरा तीसरा अक्षर मिलकर जो चीज बने वह 'दो' है और दूसरा पहिला अक्षर मिलकर जो चीज़ बने वह अनेक या 'कई' होती है। मैंने झट से उत्तर दिया—मकान। 'मन नाहीं दस बीस' वह तो एक ही है।...कवि कह गये हैं—'मन को मन से तोलिए, दो मन कभी न होय!' और कान दो हैं ही। वैसे साँप के सुना हज़ार कान होते हैं, होंगे। और 'काम' करने वालों के लिए कई हैं। वैसे निष्काम व्यक्तियों के लिए एक भी नहीं है। बर्नर्ड शॉ का कहना है कि Those who can,do;those who cannot, preach.' वैसे 'काम' के दूसरे अर्थ में, यानी कामदेव के अर्थ में यहां जाने का उचित स्थल-काल नहीं। वह तो मनोज है। सो मकान में मेरा मन लगा हुआ है, काम में लेख लिखने का कर रहा हूँ

और कान पड़ोस के मकानमालिक और किरायेदारों की लड़ाई पर लगे हैं। ह गया न मैं पूरा शताखाना!

मैं कहना यह चाहता था कि मकानों की भी कई किस्में होती हैं। महल और मचान की बात करके मैं आप का ध्यान वर्ग-कलह की ओर नहीं ले जाना चाहता। मैं तो सीधे मध्यमवर्गीय, शहराती मकानों की ही किस्में बतलाता हूँ: चाँदनी वाले, बिना चाँदनी वाले; जिन मकानों में धूप आ सकती है, जिनमें नहीं आती; प्रकाशित-तमसावृत; हवादार, कुंद; खुले दिल और दिमाग के, संकुचित गली-कूचे वाले, गैरेज वाले, बेगैरेज वाले, ऐसे जिनमें गाय (या भैंस या बकरी आदि) बंध सके, जिनमें न बँध सके; छज्जे वाले, बिना छज्जे के; पक्की नींव के, कच्ची नींव वाले इत्यादि इत्यादि। वैसे एस्किमो लोग चाहे गोल-गोल गुफाओं में रह लें, हमारे यहाँ वेदान्ती सन्यासियों तथा पहुँची हुई आत्माओं को भी बाक़ायदा फर्श जड़े हुए, पक्के मकान जरूरी होते हैं। उन्हीं में बैठ कर 'दुनिया रैन-बसेरा है' का उपदेश दिया जाता है। अधिकांश मध्यमवर्गीय मकानहीनों की [इस समास में मकान (उर्दू) और हीन (हिन्दी) का कुछ अजब सा मिलाप हो रहा है। भाषा-सम्बन्धी इस हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये द्विराष्ट्रवादी क्षमा करें] बलवती महत्त्वाकांक्षा होती है—बस पेन्शन के वक्त एक बढ़िया सा निजी या 'निजू' मकान हो, छोटा सा बगीचा हो और एक 'कार' हो—और क्या चाहिये? और वैसे 'और और' का ओर है न छोर। 'कार' रखने की यह बेकार लोगों की इच्छा खास बुरी नहीं है, मगर सवाल इतना ही है कि अगर हर एक बाबू अपना एक-एक मकान सबसे अलहदा कटा हुआ, बंगलानुमा बनाने लग जाय (और ऐसा मकानदार बाबू बनना कौन नहीं चाहेगा?) और बकौल समाजवादियों के अगर हर एक किसान-मजदूर भी बाबूनुमा बन गया तो इस विराट भारत देश बेचारे का क्या होगा? इसमें तो सिर्फ २० लाख मुरब्बा मील (यह अचरा

मुरब्बे में से कोई नये क़िस्म का खाद्य न समझें!) जगह है। उसमें से पहाड़-पहाड़ी, तालाब-झील-नदी, जंगल वगैरह जा कर जो रहने लायक़ ज़मीन बचेगी—उसमें से भी अब बहुत सा भाग 'पाकिस्तान' में चला गया है—तो उस पाँच छः लाख मुरब्बामील में अगर यह तैंतीस करोड़ देवता अपना-अपना 'एक बंगला बने न्यारा' बनाने लगें तो अनर्थ हो जायगा ? जैसे-जैसे लोक संख्या में वृद्धि हो रही है वैसे यदि बंगलों की संख्या में भी वृद्धि हो तो बस खेती के लिये जमीन ही न बचेगी। फिर आप बंगला ही खाइये और बंगला ही ओढ़िये। असल में बंगले हैं इसी बलबूते पर कि कई लोग बे-बंगले वाले हैं जो खेतों में मर-खप कर गेहूँ कपास आपके लिये पैदा करते हैं इस लिये बंगले का—अपने-अपने 'निजू, और खास बंगले का ख्वाब ग़लत है। श्री अ० डांगे, जो हाल ही में रूस से लौटे हैं, अपने एक लेख में लिखते हैं कि मास्को में ३०) माहवार किराये सर साढ़े तीन बड़े कमरे, बिजली, गर्म ठंडा पानी, रेडियो, फ़र्नीचर के साथ मिल जाते हैं और रूस की सरकार कोशिश करती है कि प्रत्येक नागरिक को वह मिले। वहां पैसा सड़कों को कोलतार की पक्की बना कर व्यापार के आयात-निर्यात को पक्का बनाने पर खर्च नहीं होता, आदमियों को—श्रमिक मात्र को (क्योंकि जो किसी प्रकार का श्रम नहीं करता वह आदमी ही नहीं, ऐसा वहाँ माना जाता है) रहने लायक मकान मिलें इस बात पर खर्च होता है! हमारे यहां की 'जनता की सरकार' कही जाने वाली वर्तमान शासन-व्यवस्था इस ओर क्या क़दम उठा रही है ?

बंगलों के नाम भी अजीब-अजीब होते हैं। 'रैन बसेरा' खासे पक्के, पुख्ता, आलीशान बंगले को कहते हैं; 'स्वप्नलोक' नाम ईंट चूने कंकरीट के प्रत्यक्ष, कठोर, कठिन ढूह को कहते हैं; 'विश्राम, में बहुत अशांति, हलचल दिखाई देती है; तो 'एकान्त' ठीक सरे बाज़ार

चहल-पहल से घिरा रहता है; 'लताकुंज' के आसपास हरियाली का एक पत्ता भी नज़र नहीं आता और 'परमधाम' में कोई परमात्मा तो दूर उससे ज़रा निकटता भी नज़र नहीं आती। 'शांतिनिकेतन' में ननद-भौजाइयों की तू-तू मैं-मैं होती रहती है और 'सरस्वती-निवास' में लक्ष्मी के उपासक रहते हैं जिन्हें काला अक्षर भैंस बराबर हो। अंग्रेज़ी नामों का फेशन अधिक है कोई 'मैन्शन' और 'विला', और 'शैले' बनाकर उतने समय के लिये ही क्यों न हो, लंडन, पैरिस, वियना आदि में रहने का आनन्द उठा लेते हैं। मेरा ऐसा विश्वास होता जा रहा है कि मकानों के भी, आदमियों की तरह, नाम यों ही, बे समझे बूझे रखे जाते हैं। मालिक-मकान का जैसा ही नाम बड़ा होता है (बदनाम भी होंगे तो क्या नाम न होगा!) या फिर कहीं नाम नहीं होता—इसलिये मकान पर उसे बड़े-बड़े अक्षरों में लिखकर विज्ञापित किया जाता है। कई बार मकान-मालिक के नाम से नहीं, परन्तु उसके आस-पास की किसी विशेष घटना, चमत्कारिक दृश्य या रचना के कारण मकान का नाम पड़ जाता है; उसे एक तरह का "नक नेम" (उपनाम) कह लें। 'अरे, वो दर्ज़ी वाला मकान,' या 'पीपल वाला मकान' या 'दहीबड़े वाला मकान'—ऐसे नाम पड़ जाते हैं। और वे सुविधाजनक सिद्ध होते हैं। बजाय 'कुंकुम-भवन' या 'माचिसवाला चाल' के, झट से कह दिया 'इमली के पास वाला मकान!' अशिक्षित, ग्राम-जन इसी प्रकार मकानों को पुकारते हैं।

वास्तु-शास्त्र के जानकार एक हमारे मित्र प्राचीन गृह-निर्माण कला में क्या-क्या सामान आवश्यक था, मकान किस दिशा में, किस मुहूर्त पर बनाये जाते थे, उनकी वास्तुशान्ति ब्राह्मणों को खिला देने से कैसे हो जाती थी—इसके सम्बन्ध में गूढ़, रहस्यमय, संशोधनपूर्ण व्याख्यान दे सकते हैं; ग्रन्थ लिख सकते हैं। जान पड़ता है, वे सब बन्धन-नियम टूट गये हैं, जबकि भारतवर्ष की 'इंपीरयल एग्रीकल्चर

रिसर्च सोसायटी' का दफ़्तर एक बाथरूम में फैल गया; स्थानाभाव से विधान-परिषद् के सदस्यगण एक-एक कमरे में पांच-सात ठूँस दिये जाते हैं। 'अखिल भारतीय देशी राज्य लोक-परिषद्' का दफ़्तर तो स्थानाभाव से एक तम्बू में ही था। ऐसे समय कैसा वास्तु-विज्ञान और कैसी मंत्रशांति ? मैंने हाल में एक ऐसे मकान का हाल सुना है जो पूरा लोहे के पत्रों का बना हुआ है और उसे चाहे जब खींच कर खड़ा किया जा सकता है। उसी में ऐसी व्यवस्था है कि कुर्सी, बेंच, बिस्तरा, मेज़, सब कुछ बन जाता है। वह 'पोर्टेबल' है यानी एक जगह से दूसरी जगह आसानी से ले जाया जा सकता है; एक छोटे से संदूक में वह समा जाता है। मकान क्या है अलादीन के चिराग से बनने वाली या मयासुर की कला का नमूना है। मुझे ऐसा मकान पसन्द । चाहे जहां खड़ा कर लिया, चाहे जब तोड़ दिया, फिर चलने लगे। यह पुराने ख़ानाबदोशों और बिसाती-बंजारों के जीवन का परिवर्द्धित संस्करण है। 'टुक हिर्स-हवा को छोड़ मियां जब लाद चलेगा बनजारा, क्या बधिया, मुर्गा, बैल, शुतुर...।' आजकल सिनेमा के गीतों में भी यह मकानवाद चल पड़ा है। 'घर ले लिया है मैंने तेरे दर के सामने' और 'बिस्तर बिछा दिया है तेरे घर के सामने' आदि-आदि महान काव्यों का रस कभी-कभी थियेटर के भोंपू आपको अनिच्छा होते हुये भी आपके कानों में उंडेल देंगे। हमारे एक साहित्य-समालोचक मित्र ने आधुनिक हिन्दी साहित्य में साहित्यकारों की 'घर लौट प्रवृत्ति' का विशद वर्णन किया है।

लेख लम्बा हो जायगा, इसलिये अपना 'मकान पुराण' एक पहेली से समाप्त करता हूँ। एक विज्ञापन हाल में पढ़ने को मिला: "चाहिये एक तिमंज़िला मकान, जिसकी तीसरी मंज़िल खाली हो, बीच की मंज़िल धक् धक् करती हो और जिसकी नींव चलती-फिरती हो!"

आपने कहीं देखा वह मकान? बूझिए!

['—देख लो इसका तमाशा चंद रोज़'

(नज़ीर)

दुनिया-रूपी बाग की बहार का तमाशा देखने के लिए कवि कहता है, मगर यहाँ तो 'दर्शक ही बन गया बेचारा एक तमाशा !' वैसे तो 'तमाशा' महाराष्ट्र में एक ग्रामीण नाट्य-प्रकार को कहते हैं, जिसका कुछ-कुछ रूप नौटंकी की भांति हो गया है। और वैसे बोलचाल की खड़ी बोली में, या कहिये 'हिन्दुस्तानी' में जब कोई सिनेमा-फिल्म देख कर लौट कर आता है, तो पूछते हैं—"तमाशा कैसा था ?" आजकल जो भारतीय फिल्में बन कर आ रही हैं, उन्हें तो देखकर सचमुच यही कहना पड़ता है कि निरा तमाशा लगा रखा है जी, पैसा एंठने के बहाने हैं, वर्ना उन फिल्मों में रखा क्या है ? गाने दो कौड़ी के, फोटोग्राफी धुंधली-धुंधली, अभिनय के नाम पर शून्य और कहानी ? वल्लाह, क्या

कहते हैं ! कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा ! ग़र्ज़ यह कि बजाय मनोरंजन के ऐसी रद्दी फ़िल्मों को देख कर उलटे मनोभंजन हो जाता है !

ऐसी ही एक रद्दी-सी फ़िल्म से ऊब कर बीच में से उठ कर घर लौट रहा था कि रास्ते में देखता यह हूँ कि एक लकदक तस्वीर वाले की दुकान है। उसमें भड़कीले रङ्गों में और आईनों में जड़ी देवी-देवताओं की, लीडरों की और सिनेमा-स्टारों की लम्बी-चौड़ी तस्वीरें एक दूसरे से सटी यों पड़ी हैं कि क्या कहने ! कहीं हनुमान जी की बगल में सुरैया मुस्करा रही है, तो कहीं राजाजी की ऐनक के करीब बेगमपारा हँस रही है या रो रही है, पता नहीं लगता। इस देश का भला हो, जहाँ तीनों बातें एक ही सतह पर मान ली जाती हैं—धर्म, लीडरी या फ़िल्म स्टारी। तीनों का लोगबागों ने तमाशा बना डाला है।

धर्म की पोल क्यों खुलवाते हैं ? बहुत बड़े-बड़े लेखकों ने इसके स्वांग और बहुरूपिये-पन को खारा कोसा है। 'तीरथ' तो तमाशबीनों की आँखें सेंकने की खास जगह बने हुए हैं। हर की पैड़ी, या बम्बई में बाबुलनाथ का मन्दिर या दक्षिण के देवदासियों से दहकते या दमकते या दनदनाते हुए मन्दिर। यहाँ धार्मिक लोग जितनी मात्रा में, जितनी संख्या में पहुँचते हैं, उससे कम से कम आधे गुण्डे-शोहदे-मवाली, हर तरह के आवारा लोग भी पहुँचते ही हैं। वैसे भी अगर शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से देखा जाये, तो क्या है ? यह सृष्टि, यह लोक सब शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्रों के शब्दों में निरी 'लीला' या तमाशा ही तो है—लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ! यदि पूछो कि भगवान के मन में यह लीला दिखाने की इच्छा क्यों उत्पन्न हुई, तो इसका कोई जवाब नहीं। भगवान ने इस दुनिया के तमाशे पर टिकट थोड़े ही लगाया है ! और लगाया भी हो तो आपको मैं भगवान की ओर से आश्वासन देता हूँ कि उस पर मनोरंजन का कर (एण्टरटेनमेंट टैक्स) नहीं लगाया गया है !

लीडरी भी आजकल खासी सस्ती और कठपुतली के तमाशे जैसी चीज़ बन गई है। कल तक जो टाइ हैट-सूट-पैण्ट के बिना एक कदम आगे नहीं चलते थे, उनके वपु शुद्ध हाथ-कती हाथ-बुनी खादी से अन्वित देखकर—राष्ट्र-प्रेम की इतनी बड़ी गुप्त गंगा एक दफ़ा इस देश में सहसा फूट पड़ी है यह देख कर मन प्रसन्नता के मारे फूला नहीं समाता। जैसे कठपुतली के तमाशे में, सूत्रधार की अंगुलियों के इशारे पर वीर मरता है या विदूषक रानी के पास चक्कर काट-काट कर जाता है, या रंडी नाचने लगती है, उसी प्रकार! अकबर इलाहाबादी का भला हो, वह कह गये हैं—'दिन वकीलों का, रात (और किसी) की!' ये प्लीडर लोग सहसा लीडर बनते चले और पपीहा बेचारा 'पी-पी' पुकारा ही किया!

फ़िल्म-स्टारी भी कम तमाशा नहीं है। यहाँ एक ऐसा दौर चला कि हर कोई इसी उद्योग को सबसे अधिक कमाऊ समझ कर इसमें कूद पड़ा। 'रपट पड़े सो हरगंगा!' मुझे बम्बई में मराठी के प्रसिद्ध हास्य-लेखक और एक नामी सिने-दिग्दर्शक बतला रहे थे कि लेखक-गीतकार कवियों की उन्हें कभी कमी नहीं होती, खास तौर से हिन्दुस्तानी लिखने वाले पण्डित और मुन्शी लोग! पाँच रुपये फी गीत लिख कर बाद में 'मुझे कम्पनी ने एक फिल्म के पाँच गानों के पाँच हज़ार रुपये दिये' ऐसा आत्म विज्ञापन करने वाले कम नहीं मिलते। परन्तु भाषा का जो तमाशा ये बे-पढ़े-लिखे साहित्य का शऊर न रखने वाले सिनेमा के नाम पर खड़ा करते हैं, वह तो और भी विषाद पैदा करता है। अभी कलकत्ते मैं गया था। मन पर पुराने 'देवदास' 'सपेरा' 'लगन' वगैरह के संस्कार होने से देवकीबोस-बरुआ-कानन के बंगाल की फ़िल्म-कला के विषय में कुछ सहज आकर्षण-युक्त आदर था। परन्तु 'मने छिलो आशा,' 'सहारा' आदि दो चार बंगला-चित्र देख कर वह आदर का जो कुछ कुहरा मन में था, वह भी हट गया। वहाँ भी वही बाम्बे-

टाकीज़-रणजीत वाली टेकनीक पहुँच गई है। वही दो ठो ड्यूएट + एक आहोज़ारी की ग़ज़ल + एक देशभक्ति का कोरस + कई सौ फ़ीट हास्य के नाम पर भोंडा चवन्निया मज़ाक और बीच-बीच में थोड़ी बहुत समाजवादी क़िस्म की पुट यानी अमीरों को गाली-गलौज और चित्र का नुस्खा पूरा हो गया! आजकल दर्शक-वर्ग बदल जाने से यह नया रङ्ग जो महबूब वग़ैरह ने 'रोटी', 'ग़रीब' में चढ़ाया और बाद में 'धरती के लाल' 'भूख' वग़ैरह में चढ़ने लगा है, उसका भी लोगबाग तमाशा बनाये डाल रहे हैं। उस्ताद 'ग़ालिब' ठीक ही फ़रमा गये हैं—

बाज़ीचा-इ-तफ़ाल है दुनिया मेरे आगे,
होता है शबोरोज़ तमाशा मेरे आगे!

'शबोरोज़ के तमाशों' में रेडियो एक खास उल्लेखनीय वस्तु है। हाल में मैं अपने प्रवास में कटक और नागपुर के दो नये रेडियो-स्टेशन देख आया। आप सुन कर शायद आश्चर्य करेंगे कि रेडियो वाले मित्रों ने (वहीं के क्यों, यू० पी० के दो तीन स्टेशनों पर भी) मुझ से उस प्रान्त, भाषा, साहित्यकारों और नये लेखकों वग़ैरह के बारे में जानकारी पूछी और मैंने अपने मुक्त स्वाभावानुसार वह दी तो प्रश्नोत्तर के सिलसिले में पता चला कि शायद मुझे इन सब दफ़्तरी-हलचलों से दूर, कालिदास की इस प्राचीन 'अपापा' नगरी में बैठे कहीं अधिक जानकारी थी, बनिस्बत कि दुनिया भर से उन नये रेडियो-स्टेशनों पर जमा किये हुए विचित्र नये संग्रहालय से प्राणियों के। शायद सरकारी महकमे अभी उसी पुरानी धीमी रीति-नीति पर उसी 'लालफ़ीते' वाले ढर्रे पर चल रहे हैं; नहीं तो कम से कम इस बात का ख्याल तो मामूली तौर पर हम रखते कि किस स्थान के लिये कौन व्यक्ति अधिक

योग्य होगा। मगर हमारी सरकार है कि सही स्पिरिट में, सच्चे सुधार के विचार से भी ज़रा सी आलोचना करने जाओ तो वह भी सहन नहीं करती। यही तो तमाशा है!

हमें तो सब तमाशों में कठपुतली का तमाशा सबसे अधिक प्यारा लगता है। या फिर बचपन में देखा हुआ वह छोटी सी लेंस में से झांक कर बहुत बड़े-बड़े दिखाई देने वाले चलते-फिरते चित्रों वाला बाईस्कोप—"बम्बई का बज़ार देखो! दिल्ली का दरबार देखो!" कहती हुई घन्टी बजाते जाने वाली वह औरत! या फिर रामलीला का तमाशा, या सी० पी० के गांवों में होने वाले 'डिंडार!' मैं उत्कल देश के रङ्गमंच के अध्ययन की दृष्टि से कटक में एक थियेटर में गया था। थियेटर खुद एक तमाशा था। उसमें हाथ से खींचने के पंखे थे, कच्ची मिट्टी की दीवारें थीं। नीचे भी मिट्टी ही थी। कुर्सियाँ एकदम सत्रहवीं सदी की थीं। परन्तु ऐसी खराब और अन-सँवरी स्टेज पर जो नाटक 'भाथ' उन्होंने दिखाया, वह बड़ा सशक्त और सजीव था। हम तो इस उम्मीद में थे कि राष्ट्रीय सरकार एक राष्ट्रीय रङ्गमंच की स्थापना करेगी, जिसकी प्रान्तों-प्रान्तों में शाखाएँ होंगी, गाँवों-गांवों में जन-नाट्य-संघ की भांति नाटक के प्रभावशाली माध्यम से प्रचार किया जायगा। परन्तु बजाय नाटकों के बन रहे हैं ग्रामीणों के लिए इन्फ़ार्मेशन-फ़िल्म जब कि गांवों में बिजली पहुंची नहीं है और हमारे देश में कच्ची फ़िल्म अमरीका से आयात की जाती है। यही तो तमाशा है!

[१९४८]

क्यों नहीं बजा ?

सेठ पोंगामल टीबडोवाल ने युद्ध-काल में जब खूब मुनाफ़ा कमा लिया था, और जब उनकी दूसरी पत्नी भी स्वर्ग की ओर प्रस्थान कर गई, तब कञ्चन और कामिनी के बाद आदमी की तीसरी कमज़ोरी कीर्ति के पीछे वे लगे। उनके दिल में यह ज़बर्दस्त इच्छा पैदा हुई कि नाम कमाया जाय, किसी तरह से बड़ा आदमी बना जाय।

आजकल बड़ा आदमी बनने के दो ही ज़रिये हैं। एक तो अगर आप जेल हो आये हों, और आपकी घर की माली हालत अच्छी हो, तो आप लीडर बन जाइये। इलेक्शन में खड़े हो कर पहिले म्युनिसिपैलिटी में, फिर प्रजामण्डल में या प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी में, फिर एम० एल० ए० और एम० एल० सी०, और अगली सीढ़ी—अगर ऊपर तक पहिचान-वहिचान अच्छी है—तो मिनिस्टर बन सकने की है। दूसरा तरीक़ा, जो इससे कम पूँजी का है (मेरा आशय त्याग-तपस्या की

पूंजी से है), वह है अखबार निकालने का। और उसमें भी यदि आप काग़ज़ की मिल के भी हिस्सेदार हों और बहुत से कारखाने उधर आपने हों, जिनसे विज्ञापन बराबर मिल सकें, तो फिर अख़बार गोया बायें हाथ का खेल है। पोंगामल यह सब थे। सो पोंगामल ने निश्चय किया कि अखबार निकाला जाय। उन्होंने कहीं से एक 'प्रेस' स-मैनेजर कबाड़ लिया था, और उनके इस सम्बन्ध में सबसे बड़े सलाहकार कहिये, सब-कुछ कहिये, यह प्रेस-मैनेजर महोदय थे। इनका नाम कालीशरण वर्मा 'सन्तोष' था। 'सन्तोष' उपनाम उन्हें खूब फबता था, क्योंकि जैसे वे बने थे, उन्हें पत्नी के बेलन की पिटाई से लगा कर अफ़सरों की गालियों तक, सब चीज़ों से परम सन्तोष प्राप्त होता था। पान उनकी एकमात्र कमज़ोरी थी और सो भी सब प्रकार का 'पान' उन्हें चल सकता था। सेठ पोंगामल की बड़े आदमी बनने की हविस में यह पहिला मददगार अपराधी था 'सन्तोष'।

वैसे मैं बता ही चुका हूँ कि हिसाब रखना, कम्पाज़ीटरों को ठीक से पैसे न देना, डाँटना, व्यवस्था रखना, घर पर पाँचो बच्चों और उनकी माता महाकाली को खुश रखना, यह सब काम 'सन्तोष' जी परम सन्तोष से कर सकते थे। सिर्फ कमी इस बात की थी कि अख़बार के जो कोरे काग़ज़ मशीन पर चढ़ते हैं, उन पर कुछ मज़मून छपना ज़रूरी होता है, सो कौन लिखे ? वे बचपन से उर्दू पढ़े थे, और उपनाम 'सन्तोष' उन्होंने शौक़िया रख लिया था। मुशायरों में भी भाग लेते थे। पर हिन्दी के नाम से उन्हें बुखार चढ़ता था। वह उनके बस की बात नहीं थी। हिन्दी गद्य, और सो भी राजनैतिक लेख वग़ैरह—बाप रे बाप ! 'संतोष' जी राजनीति से उतने ही दूर थे, जितने घोड़े के सर से सींग !

अब अख़बार निकालने के लिये सब कुछ प्रस्तुत है—सेठ पोंगामल जी (संचालक, प्रकाशक, प्रधान-सम्पादक आदि) की पूँजी है, प्रेस है, मशीन है, स्याही है, कागज़ है—सिर्फ़ कमी है मज़मून की। नाम भी अख़बार का बहुत प्यारा-सा तय हो गया—'शङ्ख'। और सच तो है, इस समय जब कि हिन्दू-जाति रसातल की ओर तेज़ी से बढ़ रही है, कौन इस सोते हुए को जागता, जागते हुए को उठता, उठे हुए को चलता-फिरता, और चलते हुए को भागता हुआ कर सकेगा ? 'शङ्ख' फूँकना ही आवश्यक है, नहीं तो...नहीं तो बस इस देश की संस्कृति गई, इस देश का प्राचीन गौरव, धर्म-कर्म सब धूल में मिल जाने वाला है ! इस सब से रक्षा करने वाला कोई एकमात्र सहारा है तो सेठ पोंगामल जी का अर्द्ध-साप्ताहिक 'शङ्ख'। इसे फूँकते ही लार्ड नार्थक्लिफ़ अपनी क़ब्र में से उछल पड़ेंगे, चीन का सब से पहिला अख़बार भी इसके आगे शर्मा जायगा और सम्पादकाचार्यप्रवर स्वर्गीय... (कोई भी नाम रख लीजिए, सेठ जी को आपत्ति नहीं है) स्वर्ग से फूल बरसावेंगे और आशीर्वाद देंगे। ऐसी 'शङ्ख' की योजना बनी : पत्र किसी राजनैतिक 'वाद'-विवाद-उलझन में नहीं पड़ेगा—पड़ सकता ही नहीं, नहीं तो पूँजी की सुरक्षितता का क्या होगा ? वह तो 'पार्टी-इन-पावर' (सत्तारूढ़ पक्ष) के गुण गायेगा, उसी की प्रशंसा करेगा। वैसे वह शुद्ध राष्ट्रीय पत्र रहेगा, परन्तु मुस्लिम-मात्र से उसे घृणा रहेगी। ध्येय-वाक्य का दोहा भी 'संतोष' जी ने बना दिया—

मित्र बनें निश्शंक, हो दुश्मन आतंक।
एक-राव-संतोष हो, ऐसा फूँको 'शङ्ख' ॥

विज्ञापन के साथ यह ध्येय-वाक्य और ऊँचे-ऊँचे सनातनी आदर्श भी सब छपवा दिये गये, और (१) आवश्यकता है एक सह-सम्पादक की—जिसकी योग्यता संस्कृत शास्त्री, फ़ारसी का आलिमफ़ाज़िल, हिंदी

साहित्यरत्न, अंग्रजी इंटर-फेल, अनुभव दस-पाँच अख़बार छोड़ने का मिजाज दुरुस्त (यानी लड़ाकू न हो), उम्र अधेड़ और तनखा माकूल (?) आवश्यकता है एक टाइपिस्ट लड़की की—हिंदी-अंग्रेजी दोनों टाइप करना जानती हो, जवान और चुस्त ('स्मार्ट' का शब्दशः अनुवाद था), उम्र विशेष न हो, अनुभवी, और वेतन प्रत्यक्ष मिलने पर - यह दो विज्ञापन भी छापा कर दिये गये। परन्तु क्या आश्चर्य कि एक हफ्ते भर सह-संपादक के लिये तो डेढ़ सौ अर्ज़ियाँ आती रहीं, परन्तु टाइपिस्ट कोई भद्र महिला नहीं आई। और जब तक टाइपिस्ट न हो, रौब से चिट्ठियाँ वग़ैरह बाक़ायदा न भेजी जायें, तब तक 'शङ्ख' बजे कैसे ?—चले कैसे ?

अंततः सेठ जी निराशप्राय हो गये थे कि एक दिन तीन बजे जब वे अपने दफ़्तर में बैठे थे, चपरासी ने आकर सूचना दी कि एक साहब और एक देवी जी साथ-साथ आये हैं, मिलना चाहते हैं। और एक रद्दी काग़ज पर पेन्सिल से लिखा हुआ विज़िटिंग-कार्ड मिला—'शास्त्री शिशिरप्रसन्न वेदी तथा श्यामा देवी। 'शङ्ख' संपादनार्थ।'

सेठजी ने कहा—"आने दो।" और प्रतीक्षा करने लगे।

दरवाज़ा खुला और एक ऊंचे, हड्डियों के कंकाल जैसे, लंबे बालों, मोटे, पानरंगे ओठों वाले, पीतल की फ्रेम का चश्मा पहने, ढीले कुर्ते पर एक मद्रासियों-सा उपरना और ढीली बंगाली ढंग की धोती पहने सज्जन और उनके पीछे रंगीन, सादी साड़ी पहने और बालों में बहुत-सा तेल और आंखों में काजल डालने पर भी अपने आपको विशेष आकर्षक न बना पाने वाली फैशनेबुल एक युवती ने प्रवेश किया !

सेठजी ने हाथ से इशारा करते हुए कहा—"बैठिये ! कहिये !"

सज्जन ने अपने पिचके गालों पर यथासंभव दीनता लाते हुए कहा—"हम शरणार्थी हैं। मैं आपका विज्ञापन पढ़ कर यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। मेरे सार्टिफ़िकेट वगैरह लाहोर की बड़ी आग में जल गये।

कवि-बिना

अच्छा, आप सवाल कर रहे हैं कि यदि कवि न होते तो क्या होता ! आप भी मुझे कुछ कुछ कवि जैसे जान पड़ते हैं । नहीं तो आप यह सवाल ही क्यों उठाते, साहब ? ऐसे सवाल कविगण ही किया करते हैं, अगर चांद न होता तो क्या होता ? तारे न होते तो क्या होता ? फूल न होते तो क्या होता ?.........

मैं कहता हूँ कि कुछ भी नहीं होता ! कवियों के रहते दुनिया कौन सी बड़ी रस-भरी होती जा रही है । मैं नीरस आदमी हूँ, और मुझे, कवियों के अभाव में कोई बड़ा चमत्कार घटित हो जाता, ऐसा नहीं लगता । आजकल के 'इत-उत प्रकाम' करने वाले खद्योत-राम कवियों को देख कर (हाँ देखकर ही, क्योंकि सुनने लायक तो बहुत थोड़ा उनमें होता है और पढ़ने लायक और भी कम !) लगता है कि यह न होते तो संसार से थोड़ा सा मनोरंजन अवश्य कम हो जाता ।

आजकल कवि-जन या तो मनोरंजन की वस्तु हैं या माइक्रोफ़ोन मात्र हैं। किसी के यहाँ मुंडन है, बुलाओ कवि जी को ! किसी के यहाँ जनेऊ, व्याह है, बुलाओ कवि जी को ! किसी हॉस्टल का बर्थ-दिन है, बुलाओ एक कवि-सम्मेलन ! वही सबसे सस्ता और आसान नुसख़ा है। मनोरंजन का मनोरंजन गाँठ से ख़र्चा भी कम करना पड़ेगा। अगर किसी बड़े गवैये को बुलाया तो पैसे लगेंगे, किसी बड़े अभिनेता या अभिनेत्री को बुलाया तो और भी पैसे लगेंगे। कवि सबसे सहजोपलब्ध वस्तु है। अब यह बात दूसरी है कि इधर कवि-जन भी कुछ कन्नी काटने लगें हैं, किसी की तबियत अच्छी नहीं रहती, किसी को मुस्तकिल जुकाम रहता है, कोई सभाभीरु 'हूटिंग' से डरता है, और कुछ सज्जन दबी जबान से पैसे टके यानी पारिश्रमिक की भी बात कर लेते हैं। परन्तु भारतवर्ष की सभी भाषाओं में, राष्ट्र भाषा हिन्दी में ही सबसे अधिक कविता छपती है। और कविता कैसी सरल-सहज वस्तु है यह किसी भी संपादक से आप पूछ लीजिये। उसको सब से अधिक जो रचनायें लौटानी पड़ती हैं, वे कविताएं हैं। एक हमारे कवि मित्र अपनी कविता छपाने के लिये साथ ही अपनी 'फोटो' का ब्लाक और उस कुरूपा कविता वधू के दहेज के रूप में मनिआर्डर से रुपया भी भेजते हैं।

ऐसे भावुक-जन ये कवि होते हैं कि क्या कहना है ! राह-चलते ताँगे वाले ने घोड़े को ज़रा तेज़ चलाने के लिये चाबुक चलाया तो इनका करुणाकलित अंतस्तल विगलित होकर अश्रुधार के रूप में वेदना का विज्ञापन करने लगता है। एक हमारे कवि-मित्र रिक्शा में इसी लिये नहीं बैठते कि उसमें मानव पर अत्याचार होता है। अब आगे बढ़े और कोई भिखारी दीख पड़ा, बेचारा दीन भिक्षुक, तो ये खंड काव्य लिखने बैठ गये। और सफ़र में कोई सुलोचना, सुकेशी या सुमुखि दिखाई पड़ी तो प्रगीत-मुक्तक से भरा महाकाव्य ही लिखना

आरम्भ कर देंगे। ऐसे कवियों के साथ प्रवास करना बड़ी विपदा है।

कवियों के अभाव में 'भाव'- पत्त की बड़ी हानि होती, ऐसा हमारे कवि-प्रिय मित्रों का कहना है। हाँ, अभाव में 'भाव' तो बढ़ता ही है। चीनी का उदाहरण सामने है। पर कवि इस विश्व में, यानी भारत में, यानी हमारे उत्तर प्रदेश में, नहीं होते तो क्या-क्या चमत्कार होते? यह मैं अवश्य निवेदन करता हूँ:

एक—संपादकों को अपनी पत्र-पत्रिकाओं में कई स्थान खाली रखने पड़ते। विज्ञापनों के साथ ही साथ, चाहे जिस लंबाई-चौड़ाई की, इतनी आसान रचना और कहां और कैसे मिलती?

दो—कवि न होते तो डाकियों का थोड़ा सा काम हल्का हो जाता लंबे-लंबे प्रेम-पत्र और इतनी सारी अर्थ-हीन रचनायें उन्हें नहीं ले जानी पड़तीं।

तीन—कवि न होते तो फिर समालोचकों का काम भी कम हो जाता। 'रेस' के घोड़ों की तरह जो नम्बर लगाते हैं कि यह प्रथम श्रेणी का कवि, यह दूसरी श्रेणी का, यह तीसरी, और चौथा इत्यादि-इत्यादि उनका यह स्कूल मास्टरी नम्बर देना कम हो जाता।

चार—कवि न होते तो सिनेमा की फिल्मों में कुछ अधिक आनन्द आता। आजकल तो कवियों ने उस क्षेत्र को बहुत ही अधिक मीठा—इतना अधिक को मक्खियाँ सदा भिनभिनाती हों, ऐसा चिपचिपा बना दिया है।

पांच—कवि न होते तो प्रासंगिक रचनाओं का अम्बार कम हो जाता। कोई मरे या जिये, कोई लड़ाई जीती जाय या हारी जाय, कोई देश तबाह हो रहा हो या बढ़ रहा हो, कवि की लेखनी अपने करुण वीर रसों से भावोद्दीपन के लिये प्रस्तुत रहती है।

छः—कवि न होते तो भाषा में कई शब्दों के अर्थ निश्चित हो

जाते। आज की तरह से खींचातानी नहीं होती। शब्दों के अर्थों के इतने मटियाले रूप न होते। और

सात—कवि न होते तो दुनियां में प्रेम के नाम पर इतना मानसिक द्वन्द्व न मचता। ख़ामख़याली न होती, अतिरंजना न होती, काल्पनिक को यथार्थ कहने का आग्रह न होता। शेख़चिल्लयों की चिल्लपों न होती और शेक्सपीयर को कवि, प्रेमी और पागलों को एक ही कोटि में रखने की आवश्यकता न होती।

कविता बेकारी से बचने का सच्चा उपाय है। आप बेकार हैं, वक़्त भारी हो रहा है; काटे नहीं कटता। बस किसी कवि के साथ जाकर टकरा जाइये। या चाहे तो कवि को ही घर पर बुला लीजिये। फिर कवि हैं और आप हैं। वक़्त कैसे नहीं कटता है, यह समस्या ग़ायब हो जायगी। कहा तो किसी ने काव्य को रसात्मक वाक्य है पर यहाँ तो इतनी जल्दी आप 'बोअर' हो जायेंगे कि जैसे "बोअर वार" ही चल रही हो।

कवि न होते तो जैसे कई लाभ होते, वैसे ही कई हानियाँ भी होतीं। कवि के बिना बताइये कौन भक्ति का इतना बड़ा परनाला हमारे देश में बहाता। जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि। कवियों के अभाव में हमें नायिकाओं के चौरासी लाख भेद कैसे पता लगते, और कवि न होते तो भला हो इन 'वादों' का (जो कभी भी पूरे नहीं होते) ये सब छाया और रहस्य और हाला और हृदय और प्रगति ये सब 'वाद' कहाँ से आते।

कविके बिना अग-जग सूना हो जाता। अलंकार श्री-हीन हो जाते, छन्द के बंध ढीले पड़ जाते, कल्पना का कचूमर निकल जाता, भावना में भुस भर दी जाती, विचार "बेचारे" हो जाते और अनुभूति का अर्थ ही लुप्त हो जाता। कवि के बिना पैरोडी किसकी लिखी जाती, और हास्य के एक बड़े अवलंबन से साहित्य-जगत् बंचित रह जाता।

कवि न होते तो प्रकाशक, थोड़ी सी चीज़ को लंबा चौड़ा छापकर मुनाफ़ा कैसे कमाते। टेक्स्ट-बुक वालों का बुरा हाल होता।

कवियों के न होने की कल्पना ही असह्य है। ज़रा सोचिये! कालिदास बाणभट्ट की तरह गद्य लिखता! व्यास और बाल्मीकि की अनुष्टुपावली एकदम मंत्रजाल हो जाती! और तुलसी, मीरा, सूर, कबीर क्या गद्य-काव्य लिखते! बिहारी, देव, मतिराम, पद्माकर को कोई कठिनाई न पड़ती। राजकवित्व पद्य में न किया, गद्य में करते रहते। इतिवृत्तात्मक की भी कोई हानि न होती, 'चोखे और चुभते चौपदे' का वर्णचमत्कार और 'ब्रह्मचर्य' और 'सदाचार' पर श्लोकबद्ध रचना गद्य-प्राय ही थी।

सब से अधिक कठिनाई होती आधुनिक कवि को। उसे अ-कवि बनना पड़ता। वह तो अ-कवि बनने से कु-कवि बनना पसन्द करता है। वैसे ही उसके लिए कविता उसकी साँस है, उसके प्राण हैं, उसका जिगर है, उसकी धमनी है, उसकी नाड़ी है। चाहे वे चलतें कितने ही मंद हों, पर कवियों को कविता न लिखने का आर्डिनेन्स मिलते ही वे बग़ल झाँकने लगते। कवि और कोई काम तो कर सकता ही नहीं।

सो कवियों के अन्य कर्मों की कल्पना ही नहीं की जा सकती। सुकोमल गीत-विहंगम भला किसी रुक्ष, जीवनोपयोगी तत्त्व के बंधन से बँध रहना पसंद करते! यह तो पारावत से पत्र-ग्राहक का काम लेना है, फूलों से औषधि बनाना है, बादलों से खेत सींचने की आशा करना है।

कवियों के न होने पर एक और कठिनाई पैदा होती। प्रेमीजन एक दूसरे को भेंट कैसी पुस्तकें देते? 'प्रेम की आह' या ऐसा ही 'दिल की धड़कन' भरे कविता संग्रहों के बदले क्या प्रियतम प्रेयसी को 'स्वादिष्ट भोजन' और प्रेयसी प्रियतम को 'काठ का काम' या 'कपड़े रंगने की कला' जैसी पुस्तकें उपहार में देतीं? और आत्महत्या करने वालों

को तो और भी कठिनाई होती। वे अपने हाथ में कविता की किताब रखकर पानी में कैसे डूब सकते थे ?

सिनेमा और रेडियो तो कवि के बिना जैसे शून्य हो जाते। जिस किसी फ़िल्म को देखने जाइये, कविता उसमें ज़रूर होती है, यहाँ तक कि आप उससे ऊब जायें। और रेडियो की सुई घुमाइये, जरूर कहीं न कहीं से कविता आप अवश्य सुन लेंगे। कल्पना कीजिये एक दिन के रेडियो-प्रोग्राम की, जिसमें कविता या गज़ल न हो। अरे साहब, आप कान बन्द कर लेंगे। क्योंकि कविता के अभाव में रेडियो का अस्तित्व आपको बड़ा बे-तुका जान पड़ेगा। चाहे कवि खुद बे-तुकी (यानी अनुप्रासहीन रचनाएँ) लिखते हो।

कवि न होते तो और जो कुछ हो उत्सवों की शोभा आधी हो जाती! अब आप सोचिये कोई बड़ा साहित्यकों का सम्मेलन हो रहा है। और भला उसमें कवि-सम्मेलन न हो तो क्या रंग बेरंग न हो जाय ? जैसे बिना नमक की दाल, या बिना नाक का आदमी या बिना एक आँख का चेहरा या...ऐसी उपमायें और नहीं दूँगा नहीं तो आप मुझे ही कवि समझने लगेंगे। कवियों की गोष्ठियां सबसे मनोरंजक चीज़ होती है। चन्डूखाने की झलक इससे क्या पुरलुत्फ़ होगी। जान पड़ता है इसी लिये पुराने राजा लोग एक-एक कवि पालते थे, जैसे कुछ लोग तोता या मैना या तीतर पालते हैं। पर आजकल जनतंत्र में यह पालन-पोषण कैसे चलेगा ? टैक्स देने वाला उसके बदले में कविता सुनकर संतुष्ट नहीं होगा; वह चाहेगा ठोस कार्य!

सबसे बड़ी मुसीबत है: जनतंत्र के युग के कवि। यह कवि क्या है ? माइक्रोफ़ोन हैं। जहाँ देश में एक घटना हुई इनकी प्रतिभा तैयार, दस्त-बस्ता, हाथ जोड़े खड़ी है। कवि क्या है, स्लाट-मशीन है। महंगी बढ़ी तो कवि जी तैयार हैं और वर्ष का अन्त हुआ तो कविता तैयार है। ग़रज़ यह कि दुनिया का कोई विषय इन कवियों ने नहीं छोड़ा।

ककड़ी पर, कद्दू पर, कमरख पर भी कविता लिखी गई। खाद्य-पदार्थों से लगा कर पेय पदार्थों तक सभी कवियों ने रगड़े। झरने, नाले, वापी, सरिता, सागर सब छान डाले गये। कवि ने चूहे पर लिखा, पिस्सू पर लिखा, झींगुर और तलचिट्टे भी नहीं बचे।

यह सब होने पर भी कवि न होते तो कैसी कठिनाई उस बच्चे को होती जो व्याकरण के नियम और इतिहास के सन्, संवत् छंद में बाँधकर स्मृति के सहारे के लिए रटता है। और कैसी कठिनाई टेसू गाने वालों की होती जो अर्थशून्य कविता के प्रथम आचार्य हैं, और क्या ही कठिनाई उन अपढ़ ग्रामीणों की होती जो हवा के रुख और खेती की बातों को भी छंदों में बाँधकर युग-युग रखे चले आ रहे हैं।

कवि न होते तो विचित्र वेश न होते, कवि न होते तो एक विशेष प्रकार की बोली न होती, कवि न होते तो एक निराली चाल न होती, कवि न होते तो कवयित्रियाँ न होतीं।

पर आज का विषय कवयित्रियाँ नहीं हैं। अतः कहूँ कवि न होते तो मुझे यह लेख न लिखना पड़ता।
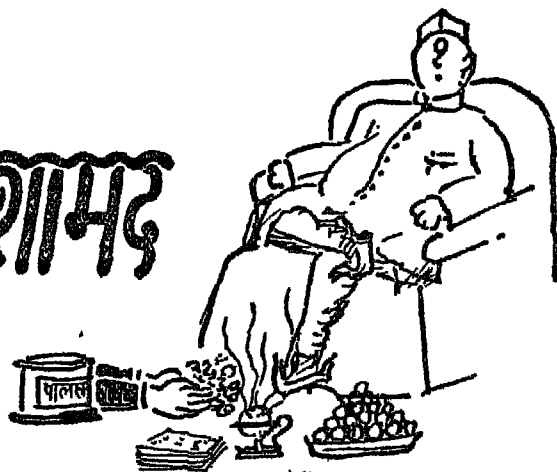
'पहिले अस्तुति करूँ बिघनहर्त्ता गनेस की !'

हमारा कोई भी धर्म-ग्रन्थ, यहाँ तक कि काव्य और नाटक भी, उठाकर देख लीजिये, आरम्भ में मङ्गलाचरण अथवा देवताओं की खुशामद ज़रूर होती है। देवताओं की खुशामद क्यों ? इसलिये कि वे प्रेरणा देते हैं, स्फूर्ति देते हैं; स्तुति न करो तो कुपित हो जाते हैं। जैसे मुग़लों के ज़माने कोरनिश करने का एक खास ढङ्ग था। दरबारे-आम में जब शहन्शाह पधारते तो बन्दीजन (चारण) खास अन्दाज़ और लहजे में 'सलामा—सलामाऽऽ, हुज़ूर तशरीफ ला रहे हैं,' कहते थे। या अंग्रेज़ के ज़माने में मामूली सहाब भी आने वाला हो तो सेठजी राय-बहादुरी के लालच में डाली चढ़ाते थे। या एक छोटी रियासत में, पहिले जब पता चला कि अमुक वायसराय की पत्नी को हल्का गुलाबी रङ्ग पसंद है, तो महलों, मन्दिरों, अस्पतालों, स्कूलों, अफ़सरों के साफ

और डिनर टेबल के मेज़पोशों तक को उसी गुलाबी रङ्ग से रङ्ग दिया गया और ऐन दो दिन पहिले जब पता चला कि वह गुलाबी नहीं 'माव' रङ्ग है तो फिर हल्के नीले जामुनी रङ्ग की पर्त चढ़ाई गई। वैसे खुशामद के आलम्बन चाहे बदलते रहे हों, युग-युग के अनुसार, पर मूल भावना वही रही है। खुशामद से कौन खुश नहीं होता ? ज़रा आपका नाई भी जब धीमे से कहता है कि—"बाबूजी, आपको तो ऐसे-ऐसे 'काट' के बाल ज़्यादा अच्छे मालूम होते हैं," तो आप भी क्षणेक आईने में झांक लेते हैं (च हे सूरत आपकी झांकने लायक न हो!) हम सब के दिल में चोर की तरह 'नारसिसस' बैठा है, जब अन्य कोई आपकी खुशामद नहीं करता दिखाई देता तो आप स्वयं ही अपनी खुशामद कर लेते हैं, यानी आईने में घन्टों बैठे देखते हैं, या पहलवान क़िस्म के आदमी हों तो अपनी भुजाओं की मछलिओं को उभार कर, सीना फुलाकर देखते हैं, या अगर लेखक हों तो इस फ़िराक़ में रहते है कि कहीं 'फोटो' ही छप जाय और उसमें हस्ताक्षर का ब्लाक भी हो तो क्या कहने हैं!

खुशामद के आधुनिकतम तरीके, कांग्रेस से हाथ में सत्ता आने पर और गांधी-वध के बाद, कुछ इस प्रकार के हैं :

(१) १५ अगस्त से पहिले आप चाहे जितना बिदेशी कपड़ा पहिनते हों, अब खादी का एक सूट सिलवा लीजिये। (चाहे वह खादी 'अनसर्टिफ़ाइड' खद्दर-भण्डार की ही क्यों न हो)।

(२) शिरोभूषण अवश्य खद्दर की टोपी का हो।

(३) तिरंगे या सुभाष बोस के चित्र वाले बटन लगा लीजिये।

(४) महिला हों तो तिरंगे किनारे की साड़ी आप को अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

(५) आप नेताओं का नामोल्लेख यथासम्भव अख़बारी या किताबी

ढङ्ग से जवाहरलाल नेहरू या महात्मा गांधी न करके, पंडित जी, बापू जी (या सिर्फ बापू) और सरदार जी आदि रूपों में करें।

(६) यदि आप के कुटुम्ब में, परिवार में या दूर के रिश्तेदारों में कोई त्यागी, भूतपूर्व जेलवासी या कोड़ाखाऊ या ब्रिटिश दमन का शिकार या शहीद व्यक्ति हो तो बातचीत में किसी प्रकार उसका नाम ज़रूर घसीट लावें।

(७) पन्द्रह अगस्त से पहिले आप अँग्रेजी नौकरशाही के घुटे-घुटाये पुर्जे चाहे रहे हों, आज एकदम 'नैशनलिस्ट' विचारों का अपने आप को बतायें।

(८) ३० जनवरी के पहिले आप चाहे हिन्दू सभा, संघ आदि के खुले समर्थक हों, 'आर्गनाइजर' पढ़कर खुश होते हों, पर ३० जनवरी के बाद आप गाँधी जी के परम-भक्त अपने आपको बतलायें। आपका हृदय-परिवर्तन कितनी जल्दी हो गया है, यह ज़ोर देकर कहें।

(९) पहिले आप मुस्लिम लीग या अन्य कांग्रेस-विरोधी पक्षों से मैत्री दिखाते रहे हों, अब दिन में तीन बार उन सब पक्षों और उनके नेताओं को खराब से खराब गालियाँ दें, और

(१०) अंत में, सबसे आवश्यक यह है कि आज देश में उत्पादन की इतनी बड़ी जरूरत के समय मजदूर-किसानों में असंतोष भड़काने वाले सोशलिस्ट-कम्युनिस्ट आदि दलों की सख्त आलोचना करें।

यह मैं, ओ खुशामदखोर 'बाबू'! तुझे 'टिप' के तौर पर नहीं बतला रहा हूँ। तू तो पहिले से ही इस कला में मुझ से बहुत अधिक चतुर है। मैं तो तेरे व्यवहार से जो निष्कर्ष निकाल पाया हूँ, वही यहाँ लिख रहा हूँ।

खुशामद के और कई प्रकार भी है। अपने 'बॉस' या 'आका' या प्रधान, जिस किसी से आपको मतलब ऐंठना हो, उसके मन को पूरी तरह समझना चाहिये। फिर भक्ति के 'स्मरणं, कीर्तनं चैव' जैसे नवधा

प्रकारों की तरह, पहिले तो उस आक़ा के, जिसे सुविधा के लिये 'अ' मान लें, उसके निकट सम्पर्क के व्यक्ति—रिश्तेदार, भांजे-भतीजे आदि या मित्रजनों के—सामने तारीफ के पुल बाँध देने चाहिए। जितने विशेषण संस्कृत-हिन्दी अँग्रज़ी कोष में मिलें, उन पर उंडेल दें। यह ध्यान रखें कि साथ ही साथ 'अ' के शत्रु पर उतनी ही सख्त गाली-निन्दा की बौछार भी करें। अब आपका नाम धीरे-धीरे वहाँ 'दरबार' में पहुँच गया कि—'हाँ, साहब, फलाँ-फलाँ आपके बारे में बहुत ऊँचा ख्याल रखते हैं, या श्रद्धा रखते हैं, या आपके कायल हैं,' वगैरह-वगैरह।

फिर सालोक्य-सारूप्य-सामीप्य की अवस्थाओं से सायुज्य (मुक्ति) की प्राप्ति होती है। परसों एक वयोवृद्ध अफसर मुझे 'टिप' दे रहे थे—देखो, भाई, अपनी तो यह नीति रही है कि ऐसी किसी सभा या सोसाइटी में आगे बढ़ने से चूकना नहीं, जहाँ अपने अफसर जाते हों। वहाँ जरूर अपना नाम वक्ताओं में लिखा देना चाहिये और ऐसा धुँआधार लेक्चर देना चाहिये कि बस रौब गठ जाय। कल तक आर्यसमाजी थे, या संघ के 'बौद्धिक' समर्थक के रूप में गांधी-कांग्रेस की बदनामी करते थे तो क्या, आज कांग्रेसी मंत्री के सामने ऐसे-ऐसे गुण-गान कांग्रेसी के कीजिये कि क्या कहने! कल तक आपने गांधी की एक भी किताब चाहे लाइब्रेरी में न मंगाई हो और सावरकर, राय और अम्बेडकर की सब कांग्रेस तथा गांधी-विरोधी किताबें जमा कर ली हों, आज कांग्रेस-मन्त्री के सामने दस्तबस्ता कहिये—'भगवन्! हम गांधी जी का लाइफ-साइज पोर्ट्रेट इस ग्रन्थालय में लगा रहे हैं; एक पूरा अलमारा भर गांधी साहित्य मंगा लिया गया है। आप हम पर कृपा करें।' बस आपके सब पाप धुल जायेंगे।

तो सालोक्य की एक तरकीब यह है कि जहाँ आपके आक़ा पहुँचे, वहाँ आप हाजिर रहिये। यह पता लगा लीजिये कि आपके आक़ा को

कौन पोशाक पसन्द है, उसी में जाइये। फिर उनके आगे-आगे आने का कोई मौका न छोड़िए। उनके जूते खो गये हों तो खोज दीजिये, उन्हें सबसे आगे फ्रन्ट सीट पर बैठा दीजिये, प्यास लगी हो तो कुल्हड़ में पानी ला दीजिये। आवश्यकता पड़ने पर उन्हें पंखा भी झल सकते हैं। यह मौका न मिले तो किसी नामधारी संस्था के कुछ भी, आनरेरी मन्त्री-फन्त्री बन कर नेता-देवता के गले में हार डालने पहुँचिये; सस्मित नमस्कार करके कुछ घरेलू याद दिलाइये। वे बलात् मुस्कराएंगे या चार शब्द बोलेंगे ही; तब आप जनता की ओर सगर्व देखकर अपने आप में कृतार्थ हो जाइये। सालोक्य की और तरकीबें खुद या अपनी लड़की की मारफत आटोग्रॉफ मांगना या 'फोटो' के लिये पोज लेने जाना आदि भी हो सकती हैं।

कुछ महिलाएं संगीत-नाच इत्यादि कलात्मक प्रकारों से नेता-देवताओं को रिझाती हैं, परन्तु वह साधारण कोटि के मानवों से सम्भव नहीं।

अब सारूप्य के कुछ प्रकार सुनिये। गांधी जी जब थे, तब कुछ लोग उन्हीं की तरह सींग के फ्रेम का, उसी रंग का चश्मा पहिन कर, धोती बाँध कर, घड़ी लटका कर, सोमवार को मौन रख कर, उन्हीं की तरह धीमे-धीमे 'तो...तो..' बीच में रुक रुक कर बोल उनकी नकल टीपना चाहते थे। पर यार लोग ऐसे नकलचियों को जापानी खिलौनों की तरह 'जापानी गांधी' कहते थे। कुर्ता न पहिनने और घड़ी लटकाने का जिक्र कृपलानी जी ने अपने सर्वोदय-समाज वाले भाषण में किया ही था। अब कुछ लोग जवाहर जाकेट और चूड़ीदार खादी का पायजामा, शेरवानी पहनने लगे हैं। शायद राजा जी की तरह रंगीन चश्मा पहिनने का भी रिवाज चल पड़े।

तो यथासम्भव आप रूप में अपने आका के समान होने का प्रयत्न करें।

तीसरी अवस्था सामीप्य की है। कई महानुभाव अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए घर को ताला लगा कर दो-दो तीन-तीन महीने अपने गुरुओं की सेवा में बिता देते हैं। चरण चापते हैं, उनकी हर बात के उगाल-दान को उठाने के लिये तैयार रहते हैं, संक्षेप में, यदि आप मुझे थोड़ा गंवारू बनने दें तो कहूँ कि 'मक्खन का डिब्बा साथ लिये चलते हैं।' इस मामले में नकली हंसी का लाघव और मधुर-मधुर संलाप की चतुराई बहुत काम आती है। अन्ततः कभी-कभी यह तपस्या फलीभूत हो जाती है—कुछ न कुछ प्रसादी प्राप्त हो ही जाती है।

खुशामद के कई और प्रकार भी हैं। तन, मन, धन, सबसे खुशामद करने वाले खुशामद करते ही हैं। सो तन वाली बात लिखने लायक़ नहीं। तन भी अपने या अन्यों के हो सकते हैं। बक़ौल कार्ल मार्क्स के इस युग में तन भी आख़िर एक पण्य-वस्तु (कॉमोडिटी) बन गया ही है। साहब के ज़माने में मेमसा'ब या बैरा का मान था आजकल व्यक्ति बदल गये हों, परन्तु 'पहुँच' और 'ज़रिया' और 'पौआ' तो काम आता ही है। सो यह तन वाली पहिचान जो है सो 'खग ही जाने खग की भाषा।' मन का यह हिसाब है कि इस कम्बख़्त का कोई आकार ही नहीं। वह 'पानी तेरा रङ्ग कैसा? जिसमें मिलाओ वैसा' है। गंगा गये गंगादास, जमना गये जमनादास। 'अ' के पास जायें तो 'ब' की निन्दा करें;. और 'ब' के पास जायें तो 'अ' को भर पेट बुरा-भला कह लें। यह निश्चित है कि 'अ' और 'ब' दो ख़ेमों में बँटे हैं—न 'अ' से पूछने 'ब' जायेगा कि यह बात जो आपने कही है, सच है या झूठ, और न 'ब' से पूछने 'अ' ही जायेगा। आपकी दोनों ओर से चाँदी है; जो भी काम आ जाये। सो मन को जितना ढुलमुल रखेंगे, उतने ही आप इस जनतांत्रिक युग में सफल होंगे। जनतंत्र में पक्ष बदलते रहते हैं; आज की माइनौरिटी कल की मैजोरिटी हो सकती है। तो बुरा क्यों बनो? दोनों हाथों लड्डू रखो। माइनौरिटि

में कहो कि मैजोरिटी तुम पर दमन-अत्याचार-उत्पीड़न कर रही है और मैजोरिटी से कहो कि यह माइनौरिटी ही सब कुछ गड़बड़ करा रही है। लेकिन इस तरह कभी कभी आप 'न हियां में न शियां में' रह जायँगे; और चमगादड़ की कहानी प्रसिद्ध है ही कि पशुओं ने उसे पक्षी माना और पक्षियों ने पशु।

इसलिए खुशामदी आदमी सबको खुश रखना चाहता है, जैसे वेश्या या कुछ व्यापारी। वह किसी का शत्रु नहीं है, इसलिये वह 'अकुतोभय' है, सदा नम्र है।

और धन से खुशामद तो इस युग की सबसे प्रधान पद्धति है। जब आप हनुमान जी को या शनी महाराज को एक पैसा चढ़ाते हैं और *सफलमनोरथ होने की कामना करते हैं, तो उस पैसे से लगाकर लाखों* के जो चंदे फंडों में दिये जाते हैं वहाँ तक, यही 'आँवला देकर कोयला निकालने' की वृत्ति निहित है। आपको मालूम है कि बाघ के पास का कंगन लेने के लिए लालची ब्राह्मण या बनिया—जो भी उस ईसप् की कहानी का नायक हो—कैसे आगे-आगे दलदल में धँसता गया और फिर भी अँगूठी की ओर हसरत भरी निगाह उसने गड़ाये रखी। यही वृत्ति बड़े-से बड़े खुशामदी की होती है।

मुझे ऐसे खुशामदी भी मालूम हैं जो अपने आकाओं के लिये भाषण लिख देते हैं, उनकी स्तुति में गुमनाम लेख छापते हैं, उनके फोटो विज्ञापनों में काम में लाते हैं (सन् तीस में अहमदाबाद की मिलों की धोती पर सब नेताओं के सुन्दर चित्र रहा करते थे) उनके बच्चों को दीवाली-क्रिसमस के उपहार भेजते रहते हैं, उनको प्यारी मिठाइयाँ या फल या रागनियों के रेकार्ड या बढ़िया सिगरेट निरंतर 'सप्लाई' करते रहते हैं, उनकी हाँ में हाँ मिलाते हैं और अगर वे शुद्ध हिन्दी के पक्ष में हों तो खुशामदी हजरत भी शुद्ध हिन्दी के

हिमायती बन जाते हैं• और अगर हिन्दुस्तानी का पक्ष लेने से ज्यादा ऊँची तनख़्वा या ओहदा या प्रतिष्ठा या मान मिलता हो तो ये हिन्दुस्तानी के सबसे बड़े समर्थक बन जाते हैं। सारांश यह है कि मैं खुशामद के ऐसे कई सैकड़ों ढंग आये दिन इस दुनिया में देखता आ रहा हूँ। इनमें ज़रा भी अतिरंजना नहीं।

परन्तु इस सब के जानने से आप यह न समझें कि इस 'फ़न' में मैं उस्ताद हूँ। यह सब मेरा निरीक्षण है, दूसरों का अनुभव है। आत्मानुभूति यदि बना पाता—डा० नगेन्द्र के शब्दों में 'आत्माभिव्यंजना' कर पाता—तो फिर मैं यों ग्यारह साल एक ही तनख्वा पर मास्टरी करते नहीं पड़ा रहता और शायद इतनी स्पष्टता से यह लेख भी नहीं लिख पाता। मुश्किल तो यह है कि इस व्यावसायिक दुनिया में हम जैसे नीतिशास्त्र के पढ़े आदमियों को अपनी आत्मा और Conscience का ख्याल हो आता है, जिसे किसी क़ीमत पर बेचना हमें मंजूर नहीं। और उसी के सतीत्व को निभाने में सब तरह की मुसीबतें झेल रहे हैं। हमें सिर्फ इसी बात का भरोसा है कि दुनिया आखिर इन्हीं मुसीबतज़दों की होगी।

[१९४८]

अ. भा. शिरस्त्राण-सम्मेलन

जब सारी दुनिया में सम्मेलन की धूम हमारे राम ने सुनी, तब सोचा, कि क्यों न हमारी जाति के, बिरादरी के सब भाइयों की एक कांफ्रेंस बुलाई जाय ? कल्पना का मन में उदय होना था कि एक अच्छे खासे टोपीवाले दूकानदार के यहाँ सम्मेलन बुलाने की कल्पना निश्चित हुई। स्वागताध्यक्ष के रूप में टोपी वाले सेठ लाला की गोल इटेलियन टोपी चुनी गई। क्योंकि स्वागताध्यक्ष चुनने में धी की अपेक्षा श्री की ओर अधिक ध्यान रहता है।...जी की गोलटोपी मँहगी थी, और ऐसे रंग की थी, 'जिस पर चढ़ै न दूजो रंग'। सब जातियों और प्रकार के शिरस्त्राणों को सम्मेलन के लिये बुलावा दिया गया और अखिल भारतवर्ष में एक टोपी-दिन मानने का प्रस्ताव भी किया गया। सब प्रान्तों से डेलीगेट आये। महाराष्ट्र से पूने की पगड़ी, बंगाल से राजा राममोहनराय पहिनते थे वैसा गोल चिपटी

बंगाली पगड़ी, मद्रास से मदरासी ज़री की किनारी वाली ऊँची पगड़ी, पारसिस्तान (बम्बई) से ऊँची पारसी पगड़ी; मारवाड़ी पगड़ी राजस्थान से, पंजाबी साफा पंजाब से, गोल किस्टी टोपी लालागन के शहर अमृत-सर से, और मेहनत से सजाई दस्तार पटियाले से; कच्छी पगड़ी कच्छ से, पाकिस्तान से तुर्रे वाली कुल्लेदार पगड़ी, तुर्की टोपी और किश्तीनुमा फ़ेज़ कैप; एक फकीर की चटाई की टोपी और जेलिस्तान से एक पुराने पापी की जेलवाली टोपी भी आगई थी; एक सोला हैट, एक फ्रेंच हैट, एक अमरीकन ऊँची टोपी और एक चौकोर बी० ए०, एम० ए० वाला हुड, एक जज साहब का ऊनी लम्बा टोप और सब से आख़ीर में एक गाँधी टोपी भी पंडाल में आकर विराजमान हुई। पूरा पंडाल पुरानी टोपियों के कपड़े से सजाया गया था। पीछे एक बड़े पर्दे पर विशाल अक्षरों में "शिरस्त्राण की जय" लिखा था। इतने में जल्दी-जल्दी से सिपाही की पीतल और लोहे की टोपियों ने प्रवेश किया और बी गैस-मास्क भी उनके साथ थी। सब प्रकार के शिराच्छादन थे, सिर्फ सिर ही नहीं थे।

सम्मेलन की कार्यवाही का आरंभ बड़ी सनसनीदार और गर्मागर्म बहस से हुआ। एक पक्ष का कहना था कि गांधी टोपी को सभापति बनाओ, दूसरा पक्ष सोला हैट को सभापति बनाने की फ़िक्र में था। तीसरा पक्ष अल्पसंख्यकों (Minority) के पक्ष में सिक्ख फेंटा या फौजी टोपी को सभापति बनाने के सम्बन्ध में था। चौथा पक्ष रैडिकल मोबॉक्रेटिक पार्टी का था—उसका तर्क था कि टोपी हो या न हो टोपी से ज्यादह सिर प्रधान है, अतः टोपी को गौणत्व दिया जाय, मस्तिष्क को प्राधान्य। आखिर फकीर की टोपी खड़ी हुई और उसने कहा—"भाइयो और बहनो जो कि अनुपस्थित हैं; मेरा प्रस्ताव है कि ऊँच-नीच का झगड़ा ही बेकार है, जो-जो टोपियाँ अपने आपको सम्मेलन में अध्यक्ष-पद के योग्य समझती हों वे आगे आ जांय और मन्च पर

विराजमान हो जायँ।" बहरहाल एक सोला टोपी एक सैनिक टोपी की मदद से, एक गांधी टोपी एक जेली टोप की मदद से, और एक फौजी टोपी एक दस्तार की सहायता से ऊपर आकर विराजमान हो गईं।

स्वागतपद्य नौकरों की टोपियों ने पढ़ा—चीख-चीखकर। माइक बीच ही में बेमार पड़ गया था। अतः सब वह पद्य ठीक से सुन नहीं पाये। फिर स्वागताध्यक्ष का भाषण हुआ जिसका मथितार्थ था—'यह सम्मेलन अपूर्व और अद्वितीय और अनूठा और अनोखा और असाधारण है। आपने मुझ जैसे को सभापति बनाया इसके लिये अनंतकोटि धन्यवाद! हैं...हैं...हैं, भला मेरी योग्यता ही क्या थी? मुझपर न तो ज़री की किनारी है न तुर्रे न पेंच न कोई रंग-बूटे। फिर भी आपने मुझे चुना, बड़ा ही आभारी हूँ। कार्यवाही सफल बनाने में आप सब लोग पूर्ण-हृदय से सहाई होंगे, ऐसी जटाशंकर से प्रार्थना है।' रेडिकल पक्ष से गूँज उठी—'जटाशंकर का नाम कैसे लिया गया? 'वह तो शिरस्त्राण विहीनों का आदिदेव है। वह तो हमारा टोपी-हीन कारल कार्क्स है।' स्वागताध्यक्ष ने गलती की माफी मांगते हुये 'मुकुटेश्वर से सफ़लता की प्रार्थना की' और अध्यक्ष चूंकि एक नहीं था, अनेकानेक अध्यक्षों के भाषण शुरू हुए।

सोला हैट खड़ा हुआ—'आप जानते हैं मेरी अर्धांगल-अर्धार्य-कृष्ण-वर्ण-देहयष्टि पर, माफ करें मैं हिन्दोस्तानी ज़बान में बोलने की कोशिश करता हूँ—नेटिव खुशचहर तन-बदन पर यह टोपी अब कुछ कम रंग देती है। अभी भी देहातों में और गेल्वेट्रेनों और रियासतों में मेरी धाक है, मगर अब तो लड़ाई का जमाना है, और मेरी जगह अब यह सैनिक टोप महाशय मेरी बजाय आपको अधिक परिचय दे सकेंगे मेरी काबलियत और ग्रेटनेस का।'

सैनिक-महाशय ने रेडियं-राष्ट्रभाषा (विभाजन के पहले) में बोलना शुरू किया—'आप जानते हैं कि जङ्ग अजीब सूरत इख्त्यार कर रही

है। मशरिक़ी समुन्दरों में इत्तिहादियों की ताक़त एक बारगी दुश्मनों के दाँत खट्टे कर देगी और हिटलर को बता देगी कि आज़ादी की लड़ाई लड़ने में हिन्दोस्तानी किस क़दर जी जानो-माल से मदद कर रहे हैं। इन झूठी अफवाहों को फैलाने वाले बर्लिन स्टेशन से बोलने वाले चन्द रोटी के टुकड़ों के मुहताज प्रॉपेगेंडिस्टों की बात का क्या एतबार ?'

दर्शकों में से एक गांधी टोपी (अविश्वास से) 'और आप ???'

सोला हैट--'चुप रहिए ! उन्हें अपनी बात पूरी कहने दीजिये।'

सैनिक--ख़ैर, सवाल दरपेश है कि अब सोचने विचारने का वक्त नहीं। फौरन से पेश्तर अपने दिल में पक्का इरादा कर लीजिये। यह शिरस्त्राण-सम्मेलन इस प्रकार, लाखों रुपया सर्फ़ कर बुलाने की बजाय, चाहिये कि आप सब एक-एक गैस-मास्क का उपयोग सीख लें।'

एक बहुत पुराने ज़माने की पगड़ी--'नहीं भाई हमारा तो दम घुट जायगा।'

'बैठ जाइये बैठ जाइये।'

फिर फौजी कैप और एक बंगाली पगड़ी और एक दस्तार एक साथ बोलने के लिये खड़े हुये। सब का आग्रह 'अल्पसंख्यकों के मत का पूरा-पूरा ख्याल राष्ट्रीय-शिरस्त्राण-निश्चय-समिति में करना चाहिये', इस बात पर था।

अन्त में एक जेली टोपी खड़ी हुई--'आप जानते हैं आज नेताजी देश गौरव राष्ट्र-भूषण श्री० गांधी टोपी जी को ज़ुकाम है और वे बोल नहीं सकेंगी, अतः उनकी जगह मैं बोलना चाहता हूँ। आप मुझसे डरिये नहीं। सफेद टोपी को अभी भी हास्य विषय आप लोग बनाते हैं, मगर उसे बहुसंख्य लोग पहिनते हैं, शायद यह आप नहीं जानते।'

फौजी कैप--'बहुसंख्य का मतलब ?'

सोला हैट--'नाट इन मेजोरिटी !'

जेली टोपी--'मेरा दावा है कि राष्ट्र के स्वातन्त्र्य-संग्राम में सर्वा-

धिक त्याग और सेवा का हविर्भाग चूंकि हमने चढ़ाया है, हमें ही राष्ट्रीय-पोशाक-असोसियेशन में अपनाया जाय। आप वोट मुझे ही दें, मैं फिर-फिर जितनी बार आप चाहो जेल जाने को तैयार हूँ।'

लालाजी—'हाँ, क्यों नहीं, और कोई बेहतर जगह आपके लिये है ही नहीं। सरकार की दामादगीरी की मौज लूटिये।'

आशय : भयानक कुर्सी-पटका-पटकी, चीख़-पुकार, शेम-शेम, ब्रेवो-ब्रेवो, के तुमुल कोलाहल के बीच में यह निम्न प्रस्ताव पास किये गये।

(१) प्रत्येक प्रान्त अथवा जाति अथवा वर्ग के लोगों को अधिकार है कि वे चाहे जो शिरस्त्राण पहिनें। इस विषय में एक राष्ट्रीय कसौटी को मानना तब तक असंभव है जब तक कि इन शिराच्छादनों के नीचे की खोपड़ियाँ या दिमाग़ एक से नहीं सोचते विचारते।

(२) टोपी में रंग का सवाल गौण है। सफेद हो या काली, लाल हो या पीली, चूंकि सब रंग अंततः सफेद में मिल जाते हैं, हमारा अनुरोध है कि या तो सफेद या फिर उसके उल्टे काला रंग सब पसंद करें। वैसे श्री० लालबुझक्कड़जी को हम विशेषाधिकार देते हैं कि वे भड़कीली रंग-बिरंगी टोपी पहिन सकते हैं।

(३) टोपी किस वस्तु की बनी हो, धातु, वस्त्र, कपास, ऊन, रेशम, पंख, चटाई के पत्ते, गोबर और कागज़ आदि-आदि में यदि हम एक मत्य ला सकें तो अच्छा हो। मेरा मत है सस्तापन और सहजता की दृष्टि से कागज की टोपी, विशेषतः रद्दी अखबारों को कूटकर बनाई जानेवाली टोपियाँ सबसे अच्छी रहेंगी। यह सम्मेलन अनेक अखबारों का इससे अच्छा उपयोग नहीं बतला सकता।

(४) एक राष्ट्रीय शिरस्त्राण बनाने की दिशा में हम एक सब कमेटी जनाब फ़ैज़ कैप, पंडित खादी टोपी, और मिस्टर सोला हैट की बना रहे हैं, जिनके निर्णय हम मान लेंगे।

(५) शिरस्त्राण-विहीन नवीन पीढ़ी के युवकों को यह सम्मेलन

आशंका और अश्रद्धा की दृष्टि से घूरते हुए यह क़रार देता है कि शिरस्त्राण-विहीनता निम्न कारणों से अक्षम्य है:—

(अ) उससे हमारी संस्कृति की रक्षा नहीं होती। (आ) उसे तथा-कथित विद्रोही, क्रान्तिकारी और न्याय-विरुद्ध लोग अपनाते हैं। (इ) उस कारण से हम प्रवृत्तिवादी के बजाय निवृत्तिवादी, सन्यासी और अनासक्त बनते जाते हैं। (ई) उसके कारण हमारी धर्मभावना का क्षय होता है और, (उ) उस रीति के चल जाने से लालाजी की दूकान मंदी चलती है।

छपते-छपते या स्टाप प्रेस या लेट न्यूज़

बहुमत से पाँचों प्रस्ताव पास हुए। अख़बारों में छापे गये। रद्दी की टोकरी में फेंक दिये गये। सब कमिटी बाद में कभी नहीं मिली। अखिल-शिरस्त्राण-सम्मेलन इसलिये नाकामयाब साबित हुआ कि 'सिर सलामत तो पगड़ी हज़ार' की नौबत, युद्ध की नवीन दिशा से, आ पहुंची है और पगड़बन्द, रंगरेज़ और टोपी सीने वाले कसरत से रंगरूट-भरती में दाखिल होने लगे हैं।

[१९४१]

......ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् ।

(चार्वाक)

'मांग कौ खैबो, मसीत कौ सोइबौ
न लैबे को एक, न दैबे को दोऊ ॥'

ऊपर जो छोटी रेखा-सी आपको दिखाई दे रही है वह 'डैश' नहीं परन्तु ऋण चिन्ह है। जैसे + बराबर धन, वैसे − बराबर ऋण; और इन दोनों की मिलावट के बिना कोई तत्व काम भी नहीं कर सकता। हाइड्रोजन सबसे सरल तत्व है, एक धन बीच में होता है, तो उसके आसपास के मण्डल में उसी के बराबर ऋण-तत्व भी होता है।

भौतिक रसायन के अनुसार—

हीलियम	२
निर्यॉन	२.८

आरगॉन	२.८.८
क्रिप्टॉन	२.८.१८.८
ज़ियॉन	२.८.१८.८
रेडॉन	२.८.१८.३२.१८.८

और इनके सम्बन्ध में एक नियम भी है—'किसी भी मण्डल में इलेक्ट्रनकी संख्या (सं०^{२})^{२} होती है। यहाँ सं० से तात्पर्य मण्डलों की संख्या से है। जैसे (१^{२})^{२}; (२^{२})^{२}; (३^{२})^{२} इत्यादि।

परन्तु यह सब साधारण मानवों के लिए जो भौतिक विज्ञान और गणित से कोरे हैं निरी 'संध्या-भाषा' है। यहाँ तो 'ऋण' सेसीधा मतलब कर्ज़ से है। और जैसे कुरान शरीफ़ में कितना मना करने पर भी पठान लोग सूद लेते ही हैं, वैसे ही 'उत्तमर्ण'—'अधमर्ण' यानी कर्ज देने और लेनेवाला गरीब इस दुनियां में सदा लगा हुआ है। शेक्सपीयर के मक्खीचूस यहूदी शाईलोक की भाँति, संस्कृत नाट्य साहित्य में सूदख़ोर रत्नदत्त भी बड़ा सूदखोर बतलाया गया है। पुराणों में तो कर्ज़ा देने वाले या वृद्धिजीवी के लिये असिपत्र-नरक भोगने की व्यवस्था दे रक्खी है।

प्राचीन भारत में सबन्धक और अबन्धक दोनों प्रकार के ऋण हुआ करते थे। जब ज़मानत लेकर ऋण दिया जाता था, तो उसे सप्रतिभू कहते थे। जो कर्ज़ा लेने और देने वाले के बीच में क़रार होता था उसे 'लोव्य' कहते थे। विष्णु संहिता में लोव्य तीन प्रकार के माने गये हैं—

'राज्याधिकरणे तन्नियुक्तकायस्थकृतं तदध्यक्षचिह्नितं राजसाक्षिकम् ॥३॥
यत्र क्वचन केनचिल्लिखितं साक्षिभिः स्वहस्तचिह्नितं ससाक्षिकम् ॥४॥

अर्थात् राजा से नियुक्त कायस्थ द्वारा लिखित, मुद्रांकित करारनामा राजसाक्षिक होता है। किसी भी जगह, किसी भी आदमी द्वारा लिखा

गया ससाक्षिक, और बिना गवाह के असाक्षिक। यानी आधुनिक भाषा में इन्हें रजिस्ट्री, तमस्सुक, हैंडनोट कह सकेंगे।

पुराने ज़माने में सूद की भी दर निश्चित कर दी गई थी। ब्राह्मण से २ प्रतिशत, क्षत्रिय से ३ प्रतिशत, वैश्य से ४ प्रतिशत और शूद्र से ५ प्रतिशत। 'आधि' या बन्धक की वस्तु का कई बार महाजन उपयोग करते थे। जब गुलाम-प्रथा देश में थी तब स्त्रियों, बांदियों आदि को भी महाजन बन्धक के रूप में रख लेते थे। धन के अलावा यदि अन्य वस्तुएं बन्धक रखी जायें तो

सोने का २ गुना
अन्न का ३ „
वस्त्र का ४ „
रस (घी-तेल) का ८ गुना

स्त्री, पशु, सब सन्तान बराबर मूल्य का और कपास, सूत, चमड़ा, आयुध और ईंट का सूद अक्षय होता था। ऋण महाजन को लौटाना पड़ता था। महाजन के मर जाने पर उस के लड़की लड़कों को देना पड़ता था। ऋणी होकर मरना हिन्दू धर्म शास्त्र के अनुसार बड़ा पाप माना जाता है। ऋणी होकर मरे तो आत्मा को परलोक में भी शान्ति नहीं मिलती इसलिये शायद सुकरात ने मरते वक्त कहा था— फलाने मन्दिर में एक मुर्गी चढ़ाने की मानता मैंने की थी, सो चढ़ा देना!

मगर आप मेरे जैसे भले आदमी हों तो सोचेंगे कि हमें तो न ऊधौ का लेना न माधौ का देना— हमें इस ऋण-प्रथा से क्या! और अब ऋण लेना भी हो तो महाजनों के पन्थ पर क्यों जावें, सरकार ने सहकारी बैंक जो खोल रखे हैं। सो उस क़र्ज़दारी की कीचड़ में क्यों फंसें! हमारे लिये तो ऋण का सीधा सा अर्थ है न्यून या कमी! हमें उस ऋणापनयन, ऋणापनोदन या ऋणापाकरण से क्या काम! हमें तो सीधे नकार से प्रयोजन है। इस नकार ने जीवन में बड़ी गति

फूंकी है। यह नकारापन ही है, जिसने बड़े-बड़े कर्तृत्व--वान पुरुष पैदा किये! मतिराम स्त्रियों के 'हाँ'-कारपूर्ण 'न'-कार के विषय में लिखते हैं—'नाहिन छूटे कण्ठ ते नाहिन छूटे कण्ठ!' कन्ठ से वह (लिपटी) छूटता नहीं; और उसके कण्ठ से 'नहा-नहीं', भी नहीं छूटती!

साहित्य के अलावा दर्शनशास्त्र में भी इस 'न' कार ने बहुत बड़ा काम किया है। जब हम किसी चीज़ के बारे में कहते हैं कि वह 'नहीं' है; तो इस वाक्य में 'है' का क्या मतलब होता है? या तो कोई चीज़ 'है' या 'नहीं' है? फिर 'नहीं' और 'है' का साथ-साथ रहना क्या है? सत् और असत् की इस तरह एकसाथ, एकदेश, एककाल में स्थिति असम्भव है! तर्क में नकार सम्पूर्ण नकार होता है। अन्यथा वह स्वीकार ही नहीं होता! मँझली स्थिति कोई सम्भव नहीं कि ५० फी सदी स्वीकार, और ५० फी सदी नकार भी हो। ऐसा समझौता 'सत्य' की तत्त्व-जिज्ञासा में असम्भव है। आधा सत्य, आधा असत्य साथ-साथ नहीं रह सकता। या तो सत्य ही है या नहीं है, माध्यमिक शून्यवादी नागार्जुन (प्राचीन बौद्ध दार्शनिक; आधुनिक कवि नहीं) 'मूलमध्यकारिका' का आरम्भिक श्लोक ही देते हैं—

न स्वतो नापि परतोन द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः

उत्पन्ना जातु विद्यंते भावाः क्वचन केचन।

(संसार में अपने से उत्पन्न, दूसरे भाव पदार्थों से उत्पन्न, उभयथा उत्पन्न अथवा हेतु बिना उत्पन्न भाव पदार्थ कहीं कोई भी नहीं है। भावपदार्थों का सर्वथा अभाव है।)

इस 'अभाव' की अँधेरी खोह में हम आगे नहीं बढ़ेंगे। इस 'नहीं तो' का कोई अन्त नहीं। हम तो यह समझते हैं कि आप यदि हमारे मित्र हैं तो आपके हमारे कुछ ऋणानुबन्ध से बन गये हैं। वे मेटे नहीं मिटते। जैसे यह आदमी आदमी की दोस्ती है वैसे ही शब्दों के बीच में भी ऋणानुबन्ध बन जाते हैं। दो-दो शब्द सदा साथ ही

साथ आते हैं। उनके बीच में 'हाइफन' या यह ऋण-चिन्ह सदा बना रहता है। ऐसे शब्दों पर प्रेमी-अभिनन्दन ग्रन्थ में डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने एक पूरा लेख लिखा है।

बात चली थी इस छोटी सी – से और बहकते बहकते हम भौतिक विज्ञान, गणित, धर्मशास्त्र, न्यायशास्त्र, दर्शन और भाषाशास्त्र तक की बात कर गये। पर यह तो बताओ कि मुझ में का कवि जो मुझे चुप बैठने नहीं देता और पूछ रहा है कि—

मैं कैसे लौटा पाऊँगा उन दो काले नैनों का ऋण
यह रङ्ग देखता हूँ इतने जिनके कारण !
मैं कैसे चुका सकूंगा कब उन दो प्यारे अधरों का ऋण-
यह गीत गा रहा हूँ इतने जिनके कारण !

उसे क्या जवाब दूं ? यह छोटी सी ज़िन्दगी और हज़ार ऋण ! कितने व्यक्तियों के, कितने दृश्यों के, कितने स्पर्शों के, कितनी रूप-रस-गन्ध-वर्णमय अनुभूतियों के, कितनी घटनाओं के, कितनी जड़ और चेतन वस्तुओं के, कितनी अजानी, अदर्शित, अस्पृश्य संवेदनाओं के, कितनी सदाशाओं और आशीर्वादों के ! कितने कितने उपकार इस छोटी सी मानवदेह और मानवात्मा पर अन्यों से और अपनों से हुए हैं ! कब मैं उस मोहिनी मूर्ति का क़र्ज़ा चुका पाऊँगा, जिसने मेरी आँखों में एक चकाचौंध निर्माण कर दी थी; जिसने एक झलक मात्र उस सफर में दी और बाद में जो कभी नहीं मिलेगी। अरे, उस इन्द्रधनुष का मैं कैसे क़र्ज़ा चुकाऊँ, जो पहाड़ की चोटी पर खड़े होकर मैंने घाटी से उगते हुए देखा था, जब कि मेरे चरणों के पास की दूब पर मोती की लड़ीसी गुँथ गई थी। अरे, उस दूर से सुनी हुई वंशी की तान का ऋण मैं कैसे चुकाऊँ जिसे गाने वाला मैंने कभी देखा न जाना। उस बेपहिचाने रागिनी के गायक से मैं कैसे उऋण होऊँ ? उस युवती का मैं कैसे उऋण बनूँ कि जिसने इतनी ममता

अकारण मुझ पर बिखेर दी और प्रतिदान भी न माँगा। इन अप्रत्याशित ऋणों की छाया में मँडराता मैं न जाने किस 'धन' की टोह में चल रहा हूँ।

भारी है एक रात शमा पर कि जिस तरह—
हमने उसी तरह है गुज़ारी तमाम रात !

क्या अन्त में, मेरे प्रिय अज्ञात-नाम शोध-पाठक, मैं तुमसे इतनी प्रार्थना कर सकता हूँ, इतना सा हृदय के भावों का विनिमय कर ले सकता हूँ कि मेरे ऐसे स्वच्छन्द, बिना-सिर-पैर के लेख पढ़ने का जो कष्ट तुम उठाते हो, उसके लिए मैं तुम्हारा ऋणी हूँ।

कभी अपना ऋण भी महसूस करो, तो चिट्ठी-पत्री डालकर मुझे कह दिया करना। वैसा इस छोटी सी रेखा का ही यह उत्पात है कि 'अ' से 'ज्ञ' तक जानने वाले भी निरे 'अ-ज्ञ' हो जाते हैं। और यह कर्ज़ कहाँ तक उतारा जाय कि चुपचाप, बिना कहे, बिना माँगे उसने मेरे खाते में अपना एक 'अङ्क' देकर मेरे खाते के कई आँसुओं के बिन्दु जैसे 'शून्य' झेल लिये, और मेरा मूल्य दुनिया की आँखों में बढ़ा दिया। जैसे मैं '०' खाली शून्य ही तो था जो भर कर तुमने ■ पूर्ण बना दिया। अब तो पूर्ण में से पूर्ण भी निकाल लो, घटा लो, फिर भी पूर्ण बचा रहेगा। यह घटा-टोप ऐसा ही है कि यहाँ कोई घटा-बढ़ी होती ही नहीं। ऐसी कुछ घटी है कि 'घटाये न घटे और बढ़ाये न बढ़े'। ज़्यादह ग़ौर से देखनेवाले को 'माइनस' लेन्स का ही चश्मा जो लगता है।

पं. महासंस्कृतानंद शास्त्रीजी

प्राकृत-संस्कृते कूप-जल, भाखा बहता नीर...

जैसा कि शास्त्री जी के मालगाड़ी की भाँति लम्बे नाम से विदित है, जैसा उनका तुंदिलतनु आकार था, उनकी रुचि भी लम्बे-लम्बे सामासिक, शुद्ध, अतिक्लिष्ट, प्राचीन शब्द प्रयोग की ओर विशेष थी। उनका यह निश्चत विश्वास था कि विश्व की यदि कोई राष्ट्र भाषा बन सकने योग्य है तो वैदिक संस्कृत ही। और लिपि शायद ब्राह्मी या अशोकी। शास्त्री जी का यह शुद्ध संस्कृत का आग्रह उन्हें कई बार बड़े धर्म-संकट में डाल देता था—और फिर सब अ-भारतीय (यानी यवन—उर्दू—और म्लेच्छ-अंग्रेजी) शब्दों के लिये उन्हें पर्यायवाची खोजना पड़ते थे, गढ़ना पड़ते थे। शास्त्री जी एक बार अपने मुकद्दमे के लिए सुखनई से इलाहाबाद (शान्तम् पापम्! प्रयाग) कैसे गये और राह में उन्हें अपनी इकलौती कन्या के सुयोग्य एक इंजीनियरिंग (क्षमा कीजिये—यंत्र-शास्त्र) पढ़ने वाला वर कैसे मिला और दाँत के दर्द के मारे वे

डाक्टर (पुनः क्षमा-याचक हूँ—वैद्य) के यहाँ कैसे गये, आदि रोचक वृत्तान्त शास्त्री जी के ही शब्दों में यहां दिया गया है। जहां आप जैसे संस्कृत से अनभिज्ञ नये-नये पाठकों को समझने में कठिनाई हो, वहां ब्रैकेट (फिर भूल हो गई, 'कंस' में या 'गोलार्द्धों में') साधारण बोल-चाल में प्रयुक्त सीधे हिन्दी-हिन्दुस्तानी शब्द भी दे दिये हैं।

शास्त्री जी ने बताया :

गोमतीपुर (लखनऊ) से मुहूर्त देखकर मैंने प्रस्थान किया, परन्तु जान पड़ता है कि कुछ ज्योतिष के गणित-पक्ष में त्रुटि रह गई। अन्यथा मेरे प्रवास में इतनी विपत्तियां एक साथ कग आतीं हैं। गृह से निकला तो, साथ में पाथेय (सामान) विशेष होनेसे एक वाहन की प्रतीक्षा करता रहा। अश्व-चालित-वर्तुल-छत्राच्छादित-त्रिमूर्तिवाहक-उच्चा-यान (एक्का) मेरी रुचि के अनुकूल उपलब्ध न हुआ। सभी शालक (साले, गाली के अर्थ) वाहन सारथी अहिन्दू दिखाई दिये। किसी प्रकार एक में हिन्दू सारथी जान मैं आसीन (सवार) हुआ। परन्तु अन्ततः उसके सम्बोधनादिकों से वह पुनः तुष्क अथवा पारस्यनिवासी देवताओं की स्तुति करता सा (या अल्ला कहता हुआ) सुनाई दिया परन्तु समयपर अग्निरथ-विराम-स्थान (स्टेशन) पहुँचना अनिवार्य था। मनमारे बैठा रहा। अवचेतन मन में भाव जाग रहे थे कि साम्प्र-दायिक वातावरण कुछ ऐसा ही है, और मैं ठहरा अपनी वीथि (मुहल्ले) का हिन्दू-संगटक। क्या होगा? महाभय मनसा पर व्याप्त था। परन्तु हनुमत्कृपा से सकुशल पहुँचे। इसी बीच रथी (इक्केवान) ने एक ताम्बूल-विक्रेता (पनवाड़ी) के यहां रथ रोककर अग्निशलाका-मंजूषा (दियासलाई) मोल ली तथा तमाखुका-नलिका (बीड़ी) फूंकता हुआ, वह आगे बढ़ा।

अग्निरथ-विरामस्थान (स्टेशन) पर अपार जनसमुदाय था। किसी प्रकार एक भारवाही (कुली) को मैंने निश्चित किया। अपना

सर्वघर (होल्ड ग्रॉल), चर्मावृत-लघु मंजूषा (एटैची) आदि उसे देकर, मैं प्रयाग की एक मूल्य-पत्रिका (टिकिट) मोल लेने गया। एक वातायन (जो कि गवाक्ष की भाँति था) में से एक अधेड़ उम्र का व्यक्ति, जो कि वहाँ का कर्मचारी जान पड़ता था खटाखट नाद करता हुआ पीले-हरे नवतमाल (कागज़) के टुकड़े मुद्रित कर, देता जाता था। कुछ द्रव्य देकर, जिसमें पृष्ठ-रूप द्रव्य (नोट) भी था, मैंने एक मूल्य-पत्रिका प्राप्त की और चला। द्वार पर एक अन्य श्वेतवस्त्र धारी महानुभाव एक छोटे से यंत्र से इन पत्रिकाओं की चिकौटी सी काटते थे। उस क्रिया के बाद हम अग्निरथ पर पहुँचे। व्यासपीठ (प्लैटफार्म) पर अनेक भाँति के पण्य-विक्रेता दक्षिण-वाम कर रहे थे। कोई खाद्य, कोई लेह्य, लेष्य, पेय आदि बेच रहे थे। एक व्यक्ति अनेक समाचार-पत्र तथा ग्रंथादि बेच रहा था; परन्तु अधिकांश ग्रन्थों पर अर्द्धनग्न नारियों के चित्र थे या ग्रन्थादि विदेशी भाषा में थे। मैं ऐसे व्यक्तियों को अपनी प्राचीन आर्य संस्कृति का घोर शत्रु समझता हूँ। मैं उसे आर्य संस्कृति के महात्म्य पर एक व्याख्यान देने ही वाला था कि गाड़ी के रक्षक (गार्ड) ने तीव्र स्वर से सीटी बजाई। [सीटी के लिए सिर खुजलाकर भी कोई संस्कृत शब्द नहीं मिल पाया इसके लिए शास्त्री जी दुखित हैं। (कोई विवेकवान, हिन्दुत्वनिष्ठपाठक शब्द सुझायें—शास्त्री जी का पता मेरे ही द्वारा है)।] गाड़ी धूम्रनिष्कासन करती हुई चली। अग्निरथ के यंत्राश्व (इंजन) तीव्र गति से चल रहे थे और नलराजा को जिस गति से उसके सारथी ले जा रहे थे उसकी स्मृति हो आई।" जिस रथांश (डिब्बे) में शास्त्री जी बैठे थे, दुर्भाग्यवश उसमें कई अस्पृश्य भी विराजमान थे अतः शास्त्री जी को गृहगमनोपरान्त सचैलस्नान करना पड़ेगा, यह कहना अनावश्यक है।

'बैठे-बैठे उनकी दृष्टि एक शिखाधारी (चुटैया वाले) तरुण पर जम गई। गोरा-चिट्टा युवक था; वेशभूषा उसकी आंग्ल-पद्धति की थी।

हो-न-हो विद्यार्थी जान पड़ता था। अपनी इकलौती विवाह-कांक्षिणी दुहिता के अनुरूप वर समझकर उन्होंने वार्तालाप आरम्भ कर दिया 'देखिए बाबू साहब (सम्बोधन में 'बाबू' जैसे विदेशी शब्द वे क्षम्य मानते थे) आप क्या पढ़ते हैं ?'

'कुछ भी पढ़ते हों, आपसे मतलब ? हम 'नारद लाइफ़ आफ़ लंडन' पढ़ते हैं। बोलिये।'

कुछ सकपकाकर शास्त्री जी ने भिन्न कोण से वार्तालाप का सूत्र उठाया—'आप का विवाह तो नहीं हुआ होगा ? मेरा तात्पर्य आप ब्रह्मचारी ही हैं न ?'

'विवाह न होने पर नौजवान ब्रह्मचारी ही रहे यह आवश्यक नहीं। आजकल विवाह एक आर्थिक समस्या बन गई है। सेक्स की प्यास बुझाना अलग बात है; सातफेरों वाला जन्म-बन्धन दूसरी।'

विद्यार्थी के एक मित्र पास बैठे थे, वे पान मुँह में ठूँसे हुए थे, ऊपर से सिगरेट का कश लेकर बोले—मैरेज सैक्रेमेंट नहीं है, कांट्रैक्ट है !'

शास्त्री जी फिर अचक गये। बोले 'आप क्या विश्व-विद्यालय में पढ़ते हैं ?'

'जी हाँ, बनारस यूनिवर्सिटी में इंजीनियरिंग पढ़ते हैं।'

'यंत्र-शास्त्र ? धन्य हो। वह तो आय की दृष्टि से अत्यन्त उत्तम 'रेखा' (लाइन) है ऐसा मैंने सुना है। मेरी दुहिता सीता भी आर्यांग्ल-पाठशाला में...'

अब दोनों दोस्तों ने शास्त्री जी को बनाना शुरू किया। शास्त्री जी समझे नहीं।

एक बोला—'आपके पास आपकी लड़की का फोटो है ?

'छाया चित्र ? किस हेतु से ? हमारे शास्त्रों में तो विवाह-पूर्व वर अथवा कन्या का परस्पर दर्शन पाप माना गया है। फिर भी आप की इच्छा हो तो वह प्रबंध मैं अवश्य कर दूँगा।'

और शास्त्री जी ने दोनों लड़कों के नाम-पते-गोत्र-वंशादि लिख लिये। शास्त्री जी को बहुत बाद में पता चला कि दोनों विवाहित थे।

रास्ते में एक अग्निरथ-विराम-स्थान (स्टेशन) पर अग्निरथ-गमनागमन-सूचक-हरित-रक्त-दीपयुक्त-लौह-स्तंभ-पट्टिका रक्त वर्ण थी (सिग्नल नहीं दिया था) सो अग्निरथ कानन में ही स्थित रहा (रुका रहा)। किसी प्रकार से शास्त्री जी प्रयाग पहुँचे, तब तक राह में कुछ सूखी, शुद्ध गंगाजल में बनी कठिन मिष्ठान चबा-चबाकर शास्त्री जी के दाँतों में दर्द होने लगा था। उतर कर पहिले एक दंतवैद्य की शोध में चले। एक मिला भी, सो पारसी था। वह बोला—'दाँत निकारना परेगा। पाँच रुपया दाम होगा।' डरकर आगे चले और राजकीय वैद्यशाला (सरकारी दवाखाने) पहुँचे। वहां पर एक डाक्टर ने उनका लम्बा चौड़ा नाम देखकर संक्षेप में कुछ लिख दिया जो भिस्त्री जैसा पढ़ा जाता था बजाय शास्त्री के। बहुत प्रतीक्षा के उपरान्त एक नर्स ने शास्त्री जी के जबड़े को कोई औषधि छुआ दी। शास्त्रीजी के जी में संस्कृत शृंगार—काव्य का रसिक जाग्रत हुआ...यदि मैं उस नायिका की कंचुकी सीने वाली सूचिका होता...वगैरह-वगैरह और वह दवा क्या हुई?—'मरज़ बढ़ता गया ज्यूं ज्यूं दवा की।' शास्त्री जी प्रति दिन संध्या और कभी कभी रात भी वहाँ इस कृत्रिम दंत रोग को लेकर पहुँचने लगे। एक दिन उनमें से एक शास्त्रीयता का विशेष आदर न करने वाली परिचारिका (नर्स) ने शास्त्री जी के बहुत अधिक प्रगल्भ होने पर (एडवान्सेज़ लेने पर) वह रहपट दे मारा कि सब दाँत का दर्द-वर्द शास्त्रीजी भूल गये। पर प्रति दिन रुग्ण बनकर औषधिशाला में जाते-जाते शास्त्री जी की चिंता का प्रमुख विषय यह बना कि इतने सारे रोगों और दवाइयों के नामों का संस्कृतकरण कैसे किया जायगा? दवाखाने में तो छोटी-छोटी चीज़ों से लगाकर सभी बातों के लिये अंग्रेजी नाम प्रयुक्त होते थे। अतः उन्होंने कुछ पारिभाषिक शब्द-रचना के प्रयोग किये: यथा बेड-पैन (शय्य-

विसर्जिका); थर्मामीटर (ज्वर-मापक नली); स्टेथैस्कोप (हृत्स्पंदन-परीक्षा-नली); सिरिंज (प्रवेशक); इंजेक्शन (सूची-भेदन); ड्रेसिंग (व्रण-परिचर्या); कम्पाउंडर (उप-वैद्य); आपरेशन (अंग-छेदन); डोज़ (औषधिमात्रा); टिंचर (अर्क); फ्रैक्चर (अस्थि-भंग); क्विनाइन (ज्वरांतक)। बोतल (?) या शीशी, वार्ड आदि कई शब्द अ-भाषान्तरित रह गये हैं। शास्त्री जी शीघ्र ही अपनी इन बहुमूल्य सेवाओं से भिषजगन को ऋणी करनेवाले हैं। शास्त्री जी अपना रोग-चिकित्सा विज्ञान-परिभाषा ग्रन्थ छपाकर अपने कर्तव्य से तो छुट्टी पा लेंगे लोग चाहे फिर उस कोष को मानें न मानें। वे तो स्वप्न देखते हैं कि सत्ता उनके जैसे कट्टर हिन्दुओं के हाथों आते ही वे विधान बना देंगे कि उनके सुसंस्कृत-कोष के ही शब्द नागरिक प्रयुक्त करें, अन्यथा उनका जिह्वाछेदन किया जायगा। उनका तर्क यह है कि भाषा इसी प्रकार तो परिष्कृत हो सकती है। कहीं न-कहीं हमें सीमारेखा बनानी ही होगी। कितने विदेशी शब्द हमारी भाषा में कबायलियों की भाँति घुसे चले आ रहे हैं—हरे राम! अब यह 'क़बायली' ही देख लीजिये-इसके लिये क्यों नहीं विशुद्ध संस्कृत यूथ- आक्रामक कहते!

सारांश यह कि यदि शास्त्रीजी का बस चले तो शिक्षा का रूप ही बदल जाय। ७ साल का बच्चा होते ही उसकी चुटैया छत से बाँध कर उसे शब्दरूपावली, सिद्धाँतकौमुदी, अमरकोष और शास्त्री जी का यह कोष रटा दिया जाय। बस फिर क्या चाहिये? और सब बातें गौण हैं। देश की रक्षा, अधिक उत्पादन, उसके लिये शीघ्रातिशीघ्र विज्ञान को विकसित करना यह सब द्वितीयक प्रश्न हैं। प्रथम प्रश्न है शास्त्रीजी के कोष याद करना और नये-नये शब्दों के अजीबो-ग़रीब प्रति-शब्द गढ़ना। जैसे टार्च के लिये 'ज्योतिर्लिंग' और फाउंटनपेन के लिये 'अखंड-मसि-लेखनी' और टाइपराइटर के लिये 'टंकनयंत्र' और सिनेमा-फिल्म के लिये सवाक्-चित्रपदार्थ-आवश्यक-कार्यार्थ-कपूरादि-

निर्मित पारदर्शी पट्टिका, और साइकिल के लिये 'द्विचक्र-वाहिनी,' और पेट के लिये--'कटिवस्त्र,' और नेकटाई के लिये--'कंठ बंद,' और 'बिस्कुट के लिये वेशकूट आदि-आदि। शास्त्रीजी चाहते तो है कि १९४७ के हिन्दुस्तान को उठाकर ३००० ईसा पूर्व मे जा पटके। परन्तु खुदा गंजे को नाखून नही देता! और भाषा यो महासंस्कृतानन्दजी के इशारे पर नाचने वाली नटनी नही बन पा रही।

[१९४७]

---

१. 'दखिन पवन बह मंद'

(विद्यापति)

२. क्योंकि मैं नश्वर नहीं हूँ
प्रश्न हूँ, उत्तर नहीं हूँ।'

(जगन्नाथ)

मैं दक्षिणी हूँ, परन्तु उत्तरोत्तर उत्तर की ओर बढ़ रहा हूँ। यानी साईबेरिया की तरफ नहीं, उत्तर ध्रुव की ओर।

वैसे चीन में हान वंश (२०६ ईसापूर्व २०४ ईस्वी) की चित्रकला में चार दिशाओं का जो नक्शा बनाया जाता था उसमें प्रतीक रूप में यह प्राणी बनाये जाते थे—

उत्तर का काला कछुआ
पूर्व का नीला अजगर (ड्रैगन)

उत्तर दक्षिण

दक्षिण का लाल पक्षी, और
पश्चिम का सफेद शेर।

लाल पक्षी दक्षिण और काला कछुआ उत्तर। धन्य है चीनी चित्रकार तेरी कल्पना! मगर दो हज़ार बरस में कुछ दुनिया का रंग बदल गया है। लाल भालू तो उत्तर में है। और काला कछुआ दक्खिन में। यद्यपि कछुआ और ख़रगोश की दौड़ में आख़िर कौन जीतता है यह सवाल अनिर्णीत है।

और उत्तर भारत के कश्मीर-शीर्षपर मद्रासी फौजें लड़ रही हैं और मद्रास की एड़ी में उत्तर-एशिया-सोवियत की नुकीली कील निरन्तर खुदी जा रही है। उत्तर के शहरों में दक्षिण के 'स्वामी' जाग गये हैं और ऐय्यर-नैय्यर-मैनन-अयंगरादि नाम सुनाई देते हैं और दक्षिण में कुछ उत्तरीय फ़िल्मों की ट्यूनें और वेष-भूषा अधिक अपनाई जाने लगी है। शरणार्थी बहिनों की दया से पांचाली पहनावा (शलवार-दुपट्टा आदि) पूना बंबई में भी चल पड़ा है। और दक्खिन की गायकी कर्नाटकी और उस्तादी धीरे धीरे विलुप्त हो कर वही पंजाबी ठेगा माहिया और गज़ल क़व्वाली सिनेचित्रों द्वारा जनरुचि पर हावी हो रहे हैं। उत्तर की बर्फ पिघल रही है, दक्खिन का श्यामवर्ण कुछ उज्जल-बरन हो रहा है। दक्षिणी गायिका सुब्बुलक्ष्मी नानक के भजन गाती है। और पूर्वी पंजाब के लेखक की सूझ कन्याकुमारी तक पहुंचती है। यानी वह उसका 'दाक्षिण्य' (शिवेलरी) है।

दक्षिण में एक लाभ है। वह दक्षिणा का। आप जो कुछ भी करें-चाहे 'पोपैडम' (पापड़ का मद्रासी करण) बनायें या वीणा बजायें, चाहे क्लर्की के लिये कलम घिसें या पत्रकारी करें—सब कुछ दक्षिणार्थ होता है। शायद मुस्कुराने के भी दाम वहाँ गिनाना पड़ते हैं। समय किसी के पास नहीं है-समय संपदा है, यह लोकोक्ति वहाँ सार्थक है। परन्तु उत्तर में बहुत कुछ मुफ़्त है—उपदेश, अतिशय अनावश्यक पूछताछ, लबड़-

धौंधौं, बात-चीत, ढीलाढालापन—सब कुछ कसरत से और उदारता पूर्वक, मुक्त और मुफ़्त मिलता है। दक्षिण में आप किसी से पूछिये 'अमुक रोड कहाँ है'। वह रुकेगा नहीं, कांस्टेबल की ओर इशारा कर देगा। उत्तर में आप पूछिये—'चांदनी चौक कहाँ है ?' तो १० मिनट तक वह आदमी आपसे इधर उधर की बात करेगा, बैठायेगा, लस्सी पानी पूछेगा और अन्त में कहेगा—चौक तो हमें मालूम नहीं साहब उधर उस दूकान पर पूछिये। दक्षिणोत्तर विभाग में अंतर है। दक्षिण कौड़ी-कौड़ी को सम्हाल सकता है, उत्तर में कोयलों पर मुहर नहीं, अशर्फ़ियों की लूट कल्पनार्थ तो ख़ासी होती है: 'आप का दौलत ख़ाना ?' 'जी हाँ, यह लड़का आप ही का है' इत्यादि !

बात यह है कि प्रत्येक दिशा का अपना दर्द है, अपना आनन्द है। पूर्व-पूर्व है और पश्चात् हो नहीं सकती। उसी प्रकार दक्षिणोत्तर मिलन दो-ध्रुव मिलन के समान असम्भव है। 'गोपाल चन्द्र मिश्र' ने ३०० वर्ष पूर्व चारों दिशाओं के सुख-दुख लिखे हैं, जिसमें दक्षिण के सुख और उत्तर के सुख सुनिये—

चीरा चीर सालू सेला समला बहारदार
जरकसी काम जहाँ होत नाना भाँति हैं।
सुकवि 'गोपाल' लाल रक्त प्रवाल-मनि
मानिक बिसाल मोती मंहगी सुजाति हैं ॥
मेवा औ मिठाई फल फूल मूल मुक्त राज
तरुनी अनूप रूप झलकत गात है।
देखे बनै बात सदा सोभा सरसात प्यारी
दच्छिन दिशा के गुन कहे नहीं जात है ॥
दयावान धनवान पुनि, लोग बड़े गुनवान।
यातें दच्छिन देस को करिये सदा पयान ॥

और उत्तर के—

लायची लवंग दाख दाडिम बदाम सेब
सालम अंगूर पिस्ता लैये उठ भोर को।
कस्तूरी केसर जानित्री जायफल
दालचीनी देवदारू की सुगंधि चहुँ ओर को॥
साल औ दुसाले धुस्सा नाना पसमीना ओढ़ि
देखत रहत आछि तियन की मोर को।
कहत 'गोपाल' प्यारी सुनिये निहोर मोपै
कह्यो नहीं जात सुख उत्तर की ओर को॥
हरिद्वार ते कै परति बद्रीनाथ केदार।
होत कृतारथ जीव यह उत्तर खंड मझार॥

और जहाँ तक दुख का प्रश्न है उसकी चर्चा मैं नहीं करूँगा। उसमें तो 'होत बड़ी बड़ी ख्वारी' और 'जीव हिंसक इसमैं हैं।'

उत्तरी और दक्षिणी अमरीका में कई दशकों तक भयानक लड़ाई चलती रही। हमारे अहिंसक रामराजवाले देश में कभी-कभी 'द्राविड़स्तान' का द्राविड़ी प्राणायाम सुनाई देता है। पर वह यों ही है। असल में हमारे देश में सब दिशाएँ एक ही दिशा की ओर जाती हैं। ऊर्ध्वायां दिशे ब्रह्मणेनमः (ऊर्ध्व दिशा में ब्रह्म को नमस्कार है!) उत्तर तो किसी प्रश्न का हो सकता है और कई तरह हो सकता है। यानी एक 'उत्तर' के बत्तीस ढंग। कई लोग कई तरह से उत्तर देते हैं। मद्रासी 'हाँ' के लिए गर्दन उसी तरह हिलाता जैसे उत्तर वाला 'ना' के लिए। और कभी-कभी तो मौन ही उत्तर हो जाता है। अंग्रेजी में और फारसी में मौन 'हाफ़ कन्सेंट' (नीमरज़ा आधी स्वीकृति) है तो हमारे यहाँ 'मौनम् सर्वार्थसाधनम्!

दक्षिण के भी संस्कृत में वही हाल हैं, ऐसा आप समझते हों तो ग़लत है। दक्षिण में शब्द भी दक्षिणात्योंकी भाँति आरंभशूर ही है।

दक्षिण के अर्थ हैं यज्ञादि ज्ञान तथा यमाश्रिता दिशा और दाक्षिणिक के सिवा और शब्द दक्षिण से बनते नहीं। यह दोनों के संबंधों का अंतर है। दक्षिणवाला काफी पी बिना इमली प्याली से संतोष कर लेगा, पर उत्तरवाले को तो मलाई-खुरचन, पेड़े बरफी और लस्सी के बिना संतोष नहीं। पहनावे का भी वही बात है; दक्षिण में एक तहमद या लुंगी और एक उत्तरीय काफी है, उत्तरवाले के साफे का पल्लू ही इतना लंबा होता है कि क्या कहना है! अंगरखा-मिर्ज़ई भी वैसी ही लंबी लंबी होती है! मलाया की स्त्रियों के पहनावे की तुलना मेरठ की स्त्रियों से क्यों करें!

मगर मेरे जैसे सब रंग में खुश आदमी को 'इडली-दोसा-उपमा-सारम्-जिड्डिपप्पु' से भी उतनी ही मुहब्बत है जितनी 'चाट छोले-दहीबड़े-चना ज़ोर गरम' से! हम हर हालत में खुश हैं, दाक्षिणात्यों की इमली-मिर्चें भी मुबारक; और उत्तरवासियों के पराठे कचौड़ी भी मुबारक! हमारे लिए तो 'कथक' और 'कथकलि', 'कहरवा' और और 'भारतनाट्यम्' एक ही से अंगविक्षेप हैं; चूंकि नृत्य में कोई विशेष रुचि नहीं है! जंगल में मोर नाचा किसने देखा? (हमने देखा है!) वही मोर का नाच हमें पसंद है। मेरे आदमी कितना भी क्यों न नाचे, न नौ मन तेल जुटता है न राधा नाचती है!

उत्तर और दक्षिण के साहित्य में हमारे लेखक मित्र कहते हैं, बहुत सा साम्य है। यानी यह कृशनचंदर और गुरुकृष्ण, यशपाल और वल्लथोल वाला 'साम्य'-वाद नहीं—सचमुच में वैष्णव-शैव प्रेरणाओं में, जीवन के प्रति और मरण के प्रति तटस्थ दृष्टिकोण में बड़ी समानता है। 'अच्छा! ऐसी भी कुछ बात है?—हम तो समझते थे वो मद्रासी में भी कोई साहित्य-फाहित्य हो सकता है?' 'तत्तनत्त सब कबिरा कह गये अनत कहे सो जूठी!'' और साउथ इंडियन रेलवे से जाते हुए एक दक्षिण नायक ने कहा (वह शठ भी था या

नहीं पता नहीं)—'दी नार्थ इंडियन हॅस नो कल्चर । आई यम ए यम. ए. इन यकाणामिक्स फ्राम यरणामलाई यूणीव्हर्शिटी । यम-ओ-यरण-ई-वायी मणि!' (अर्थात् अंग्रेजी के दक्षिणी उच्चारों में—उत्तर भारतीय की भी कोई संस्कृति है ? मैं तो अन्नामलाई विश्वविद्यालय का अर्थ शास्त्र का एम. ए. हूँ । पैसे का स्पेलिंग होता है Money) । परंतु उत्तर भारतीय जन अंग्रेजी बोलता है तो 'एंगील' 'सर्कील' के अलावा उच्चारण 'सकूल' और 'इसकूल' भी हो जाते हैं । 'इस कूल प्रिय तुम हो, मधु है, उस कूल न जाने क्या होगा !' कहने का मतलब, दोनों के दोष हैं । दोनों की हैठी-हेकड़ी है, दोनों के प्रांताभिमान कम नहीं हैं— पर उससे क्या ? हैं तो हम सब एक ही भारत के 'भारती' । चाहे तामिल के 'भारती' को बुंदेलखंडी न जानते हों, और तामिलनाड-केरलवाले 'भारत-भारती' को न जानते हों । उत्तर और दक्षिण में दो ध्रुवों का अंतर होने पर भी है तो दोनों में एक सूत्र ! ताज या अमृतसर का मंदिर जितना सुन्दर है उतने ही सुन्दर हैं मीनाक्षी के मंदिर और रामेश्वरम् या काँची के विमान ! कावेरी का जल जितना जीवनद है उतना ही कालिंदी का; और लिपि-वैषम्य होने पर भी हम तंजोर की 'वीणा' सुनकर उतने ही हर्षित होते हैं, जितनी काशी की शहनाई !

लगता है यह दिशाभेद निरा रूप-भेद है । आत्मा तो नैनीताल हो या ऊटाकमंड, एकसी ऊँची है !

खरगोश के सींग

...साक्षात् पशुः पुच्छ-विषाण हीनाः

बड़े बूढ़े कह गये हैं—'आदमी में पशु से अधिक एक चीज़ है ज्ञान। नहीं तो वह बिना सींग-पूछ का प्राणी है।'

ज्ञान तो अक्ल से प्राप्त होता है। पर हमारे ज्ञानार्थी जो कालेज में पढ़ने वाले या वालियाँ हैं, उनकी हालत दूसरी है। उनको उम्र आने पर पंख फूटते हैं या सींग उगते हैं। और उनके जीवन का उसूल है :

इश्क नाज़ुक-मिज़ाज है बेहद,
अक्ल का बोझ सह नहीं सकता।

अभी हाल में कटक गया था। वहां सुनता हूँ, लोग जाते हैं तो अक्सर अटक जाते हैं। पर मैं नहीं भटक सका। वहीं सींग का बहुत बढ़िया काम होता है। वह देखने गया था। सींग की छड़ी, सारस, साँप, फूलदान, कलम, कंघियाँ, खिलौने और एक ख़रगोश भी देखा। सींग का ख़रगोश, जी हां ख़रगोश के सींग... !

ख़रगोश के सींग

अक्सर जो चीज़ असंभव, अशक्य, कभी न पाई जाने वाली हो उसे ख़रगोश के सींग या 'आकाश-कुसुम' या रेती से तेल, या ऐसा ही कुछ कहते हैं। संस्कृत का श्लोक है कि एक बार रेती रगड़ कर तेल भी मिल जाये, ख़रगोश के सींग उग आवें, परन्तु मूर्ख का हृदय क्षण भर भी नहीं बदलता।

मैं तो शिक्षक हूँ और 'करत-करत अभ्यास ते जड़मति होतं सुजान!' (यानी सुजान भी जड़मति हो जाता है!) मानता हूँ। हर साल कई मूर्खों को (अगर डिग्री-याफ़्ता नौजवानों को ही अकलवाले कहा जाये तो) बुद्धिमान बनाया करता हूँ। और इसीलिये मुझे दृढ़ विश्वास है कि ख़रगोश के एक न एक दिन सींग ज़रूर ऊगेंगे। इसी को तो 'युटोपिया' की आशा कहते हैं। और यह आशा न होती तो विधाता की सृष्टि को हम ज्यों का त्यों मंजूर कर लेते। मगर नहीं, हम भरसक कोशिश करते हैं कि इस सृष्टि को बदलेंगे। नया बनायेंगे, बेहतर बनायेंगे।

इस ख़रगोश के सिर पर सींग उगने की समस्यासे मैं दूसरे एक विचार पर पहुंचा कि आख़िर सींग का उपयोग क्या है? क्यों प्रकृति ने यह 'शृङ्गापत्ति' (तर्कशास्त्र में between two horns की उलझन) नाहक मोल ली। गेंडे के ललाट में से एक नुकीला सींग आगे रहता है और 'यूनीकार्न' आदि राक्षसों का भी वर्णन सींगयुक्त है। सींग लड़ने का खास हथियार रहा होगा उन जानवरों का जो कि सिरसे क़ाम लेना चाहते हैं, परन्तु दिमाग जिनका विकसित नहीं था। यों यही काम हाथी अपने दांत से और 'हिप्पो' अपनी थूथड़ी से और मगर अपनी कंटीली पूंछसे लेता होगा। ज्यों-ज्यों जानवर सभ्य होने लगा, उसने सींग का परित्याग कर दिया। जो जङ्गली हिरन, रेंडियर और बारहसींगे (उनके सिरपर एक दर्जन ही सींगों की व्यवस्था विधाता ने किस गणित के हिसाब से की पता नहीं) थे वे बाद में बिना सींग के पालतू मृग-शावक

बन गये। और जहां पहाड़ी 'याक' के सींग होते हैं, मैदान पर खच्चर-घोड़े फिर बिना सींग के लद्दू जानवर हैं। और यहाँ अपने मित्र श्री गर्दभ जी का तो स्मरण कर ही लेना चाहिए, क्योंकि लड़ना उसके स्वभाव में है ही नहीं। बहुत खीझ उठे तो पिछली दो टांगों से गर्द उड़ा दी—जैसे मध्यमवर्ग के साधारण लोग घर बैठे निंदा, निरर्थक आलोचना, टीका, टिप्पणी, scandal किया करते हैं।

तो सींग पहिले उच्च रहा होगा, बाद में जङ्गल में छिपे रहने के लिए एक खोल (कमोफ़्लाज) और बाद में धीरे-धीरे वह नदारद होने लगा। परन्तु अभी भी आज गऊमाता, महिष (भैंस) और उनके पतिराजों में यह सींग पहनने का रिवाज मौजूद है, यद्यपि नार्वे स्वीडन की ओर बिना सींग की गौएँ होती हैं। ज्यों-ज्यों विकास के क्रम में प्राणी सिरके अन्दर के हिस्से से ज़्यादह काम लेने लगा, उसने बाहर के ये 'डेकोरेशन्स' कम कर डाले। मगर कह मैं यह रहा था कि भले आदमियों को आज के अणु-युग में हमेशा असम्भव से असम्भव बातों के लिये तैयार रहना चाहिये। और जितनी विचित्र और साधारण कल्पना आदमी करे उतना बड़ा 'कल्पक' वह माना जाता है, इसलिये अगर ख़रगोश सुन्दर छोटे-छोटे बकरी जैसे दो सींग पहन कर आपके सामने उछलने भी लगे, तो आप को चौंकना नहीं चाहिये। क्योंकि कभी बेचारे ख़रगोश के भी तो दिलमें यह इच्छा हो सकती है कि देखें सींग उगाकर या पहनकर कैसे लगते हैं? कुछ आदमी इसी शौक से अपने सिर पर तिकोनी टेढ़ी टोपी या ऐसी सींगदार पगड़ी पहनते हैं। उदयशंकर के नाच में नन्दी जो बनता है वह तो दो बड़े सींग सिरसे बाँध ही लेता है। नन्दी और कुछ आदमियों में बहुत बातों में साम्य है। क्योंकि जबतक उसे छुओ नहीं, शिवजी का दर्शन दुर्लभ है, वैसे ही जब तक चपरासी साहब या प्राईवेट सेक्रेटरी साहब को पुजापा नहीं चढ़े, बड़े साहब के दर्शन नामुमकिन होते हैं। इस

लिये संस्कृत में ऐसे शृङ्गियों (सींगवालों) से सावधान रहने का आदेश है।

सींग का एक उपयोग आदमी ने 'बिगुल' की तरह से भी किया था। रण के वर्णनों में एक वाद्य यह रणशृङ्ग भी है। कई यूनानी देवी-देवता तो इसे साथ लेकर रहते थे। आगे चल कर बिगुल इसी से बना। दूसरा सींग का उपयोग आदमी ने उसे पोला कर, या वह खोखला ही हो तो वैसे ही साफ़ कर, चीजें रखने के लिये, एक 'थर्मास' की तरह किया कुछ लोग घर में दीवान खाने सींगों से सजा कर रखते हैं। मेरी समझ में आज तक यह शौक़ नहीं आया है—कोई शिकारी हो और खुद मारे हुए जानवरों के सींग रखे तो कुछ शान की बात भी है। नहीं तो अपने मकान में आगे पीछे क़द आदम-आईने के पास दो पनियाली, मुर्दा आंखों वाले हिरन के सींग टँगे हैं, और उनके सींगों पर हैट और पेंट कोट लटकाये जा रहे हैं।

अभी मैंने परसों एक बात देखी है और मेरा विश्वास बढ़ गया है कि ज़रूर ख़रगोश के सींग उगेंगे। नेपोलियन की तरह हम भी अपने कोश से 'नामुमकिन' शब्द निकाल देंगे। और वह बात यह है कि मैंने एक घूस या रिश्वत न लेने वाला कस्टम का सिपाही देखा है, फैशन न करने वाली एक कालेज की लड़की देखी है, अपने सरकार की निन्दा न करने वाला एक समाजवादी देखा है, और प्रांतीयता से जो नहीं भरा हुआ है, ऐसा पंजाबी, बंगाली, मद्रासी या महाराष्ट्रीय आदमी देखा है। अभी मुझे भरोसा है कि चमत्कारों का युग नहीं बीता है। ख़रगोश के सींग उग सकते हैं और इस दुनिया में जीने के लायक अभी बहुत उम्मीद का सामान बाक़ी है। जिस दिन ख़रगोश के सींग उगेंगे वह कछुए से होड़ करने का अभिमान छोड़ देगा। और वह भी 'धीमे मगर निश्चित' गति से अपने ध्येय तक पहुँचेगा। जवान लोग ख़रगोश की तरह चंचल, सलज्ज और पलायन-प्रिय

होते हैं। कभी-कभी वे 'मई के ख़रगोशों,' की तरह पागल होते हैं। परन्तु वे दायित्व को समझने लग जायें—देश के और घर के और बाहर के—तो उनकी इच्छाओं के फर-फर उड़ते हुए कागजों पर पेपर-वेट रखा जा सके और बहती दुर्द्धर्ष नदी को बांध नहीं घाट बांधे जा सकें।

रोमन लिपि की खूबी है कि सिंह और सींग लिखने में कोई अंतर वह नहीं करती। और राजपूती शान वाले सिंहों का ध्यान आते ही (जिनके लेहँड़ें नहीं होते) मुझे एक चुटकुला याद आया जो एक परीक्षार्थी का 'हाउलर' है।

प्रश्न था—बाघसिंह का चरित्र-चित्रण कीजिये।

'रक्षाबंधन' नाटक में बाघसिंह एक प्रमुख पात्र है। बाघसिंह एक वीर राजपूत है। उनकी वीरता प्रशंसनीय है।

किन्तु परीक्षार्थी ने जिन शब्दों में बाघसिंह जी का चरित्र-चित्रण किया है वह कम प्रशंसनीय नहीं है।

परीक्षार्थी ने लिखा है—"बाघ और सिंह दोनों जंगली जानवर हैं। दोनों जंगल में रहते हैं और शिकार किया करते हैं। संसार में अफ्रीका के बाघ और सिंह बहुत प्रसिद्ध हैं।'